लवर्स लेन

एवं अन्य कहानियां

जनार्दन

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS

India | U.K.

Copyright © Janardan 2025

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishjng takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7018-512-8

Book cover
Artist-Atul Sharma, Designer Kishan Nayanam
All rights reserved by Author.
First Published in March 2020

Re-edition May 2025

समर्पण

पूज्य चाचा, स्व0 श्री मुंशी महेन्द्रलाल
(1890-1950)
की पावन स्मृति को सादर समर्पित

जिनकी गोदी और कंधे पर बैठ कर मैंने
अक्षर और अंको का ज्ञान प्राप्त किया था।

जनार्दन

अनुक्रमणिका

लवर्स लेन.....1

और वह चली गई.....5

जिस देश में गंगा बहती है.....29

वह कौन थी.....48

दस नया पैसा, और अपने-पराये.....68

सुकन्या.....84

पिकनिक.....92

सुख.....116

लवर्स लेन

प्रेम को कभी-कभी वे पुरानी स्मृतियां अपने आगोश में ले लेती हैं।

वह सोचने लगता है उन प्रेमी युगल जोड़ी के विषय में जो एक दूसरे का हाथों में हाथ लिये, मंद-मंद स्वरों में वार्तालाप करते मंथर गति से डोलते, विचरते हैं 'लवर्स लेन' की वीथियों में। वह क्या बातें करते होंगे?

वह प्रायः देखता था बेंटिक और सुगंदेई के जोड़ी को। और भी होंगे रोमियो-जूलियट जिन्हें उसने देखा नहीं होगा या होंगे जो उतने खुले नहीं होंगे, इस विदेशी युगल जोड़ी के समान सबों को दिखायी पड़ने के लिये।

क्या कभी प्रेम भी ऐसे ही सीना तानकर या छिप-छिप कर घूमता, यदि उनकी कहानी भी परमान चढ़ती?

पता नहीं?

'लवर्स लेन' का जिक्र फार्मोकालाजीके प्राध्यापक प्रो0 के डी चौधुरी प्रायः अपनी कक्षाओं में किया करते थे। तब के गुरु अपने शिष्यों से झूठ नहीं बोला करते थे।

पीएमसीएच में कहीं एक 'लवर्स लेन' था।

निसंदेह आज भी होगा वह कोना।

II

लवर्स लेन!

हां, लवर्स लेन।

पटना चिकित्सा महाविद्यालय में कोई एक कोना था जो 'लवर्स लेन' कहलाता था। वह कोना पहले से भी था तभी प्रो0 चौधुरी उसका जिक्र किया करते थे। डा0 चौधुरी कभी पीएमसीएच का विद्यार्थी भी रह चुके थे। अतः अवश्य अनुभव की बात ही करते होंगे।

संभवतः वह कोना आज भी होगा।

अवश्य ही होना चाहिये क्योंकि ऐसे कोने की आवश्यकता आजकल और अधिक है। शिक्षा संस्थानों में अब विद्यार्थियों से अधिक 'लवार्थियों की ही संख्या होती हैं।

प्रेम की 'प्रेम कहानी' तो लवर्स लेन जाने के पूर्व ही धुएं का बादल सा विलीन हो गया था। गुब्बारा, आकाश में उड़ने के पहले ही फूट गया था। प्रेम नहीं जान सका और नहीं आज भी जानता कि पीएमसीएच में लवर्स लेन का वह कोना कहां था।

जानता भी कैसे, वह।

किसी भी सुमुखी को सम्मुख पाकर प्रेम को कमीज के भीतर ही पसीना आने लगता था। यहां तक कि शरीर रचना विभाग के शव-विच्छेदन वर्ग की प्रौढ़ प्रदर्शिका, लेकिन छबीली शशिबाला सिनहा के सामने पड़ने पर भी उसकी यही स्थिति होती थी।

ऐसी स्थिति में आप स्वंय सोच सकते हैं कि प्रेम से 'लवर्स लेन' को जानना तो क्या, उसके स्वप्न तक की परिकल्पना की अपेक्षा करना, मूर्खता नहीं तो और क्या होगी।

लेकिन प्रेम दावे के साथ कह सकता है कि उसका मित्र डा0 कृष्णचन्द्र मेहता उसे जानता ही नहीं, उसके कोने कोने से भली भांति अवगत होगा।

विलियम बेंटिक और आर0 सुगंदेई उस गली के बहु चर्चित चेहरे थे।

विलियम बेंटिक और सुगंदेई की भी क्या अद्भूत जोड़ी थी। जैसे जगतनियंता ने उन्हें बड़े मनोयोग से बनाया हो एक दूजे के लिये ही, परन्तु विपरीतार्थक। दोनों के आकार-प्रकार, डील-डौल, रंग- रुप और स्वरुप में ही नहीं, पहनावे में भी कहीं दूर दूर तक ऐक्य क्या वैषम्य में भी वैषम्य ही था।

दुबली-पतली तन्वंगी, छुई-मुई, गोरी-चिट्टी, छोटी, तीखे नाक-नक्शवाली, गुड़िया सी सुगंदेई; और सघन अमवस्या को भी पराजित करने वाला, लम्बा-चौंड़ा डील-डौल, फैले नाक-नक्शवाला बेंटिक!

बेंटिक के कपड़े भी होते थे रंग-रंगीले और बड़ी बड़ी छापों वाले, भड़कीले। लेकिन सुगंदेई की हल्के मनभवन रंगों की बेलबूटेदार विलायती छापवाली, छोटे और चुस्त जिसमें उसका लावण्य और अवयव बाहर फूट निकलने को आतुर प्रतीत होते थे। प्रेम की रीति और राह भी निराली होती है। ज्ञात नहीं यह उनका आपसी प्यार था या 'टाईम पास'?

उन दोनों को एक साथ देख कर प्रेम सदा एक उलझन में पड़ जाता था। दूसरी बातें छोड़िये, एक चुंबन के लिये भी बेंटिक को कितना नीचे झुकना पड़ता होगा; उस समय उसकी आकृति कैसी लगती होगी?

एक बैबून या बड़े लंगूर सा?

इसकी कल्पना मात्र से प्रेम को हंसी आ जाती थी।

यद्धपि यह समस्या उनकी थी, पर उन्हें एक साथ देख, इस चिंतन में खोया प्रेम कई बार दूसरों से टकराते-टकराते बचा था।

उसके सहपाठियों में रोमियों तो कुछ और भी थे जो आपस में प्रायः उलझते रहते थे किसी ललना को लेकर। लेकिन वे सब एकांगी प्रेम-पथिक, रोमियो थे। प्रेम ने कभी किसी स्वप्न सुन्दरी जुलिएट को उन रोमियों को घास डालते नहीं देखा था। उसने कई बार ऐसे रोमियों की कार्टूने ब्लैक बोर्ड पर बनायी थी।

उस दिन भी वह श्यामपट्ट पर दो असफल रोमियों के चित्रण में ही संलग्न था, जिस दिन इसका रहस्योद्घाटन हुआ था कि श्यामपट पर कार्टूनों को उकेरने वाला कौन होता था। कार्टूनिश्ट को अनावृत करनेवाली सुमुखियों में एक वह भी थी, जिसकी मनभावन थी काली कजरारी - नहीं, किंचित कुईस आंखें।

क्या प्रेम की, प्रेम कहानी कभी परवान चढी?

क्या प्रेम भी किसी जूलियट का हाथ, अपने हाथों में लेकर, एक साथ डोला था लवर्स लेन की वीथियों पर, गुजरा था लता-वितानों के नीचे से, बैठा था सुगंधित पुष्पों की कुंजों में?

क्या प्रेम को, श्यामपट्ट पर कार्टून उकेरते देखनेवाली चन्द्रमुखियों में से, किसी काली-कजरारी नयनों वाली या उसने घास डाली, जिसकी मनभावन थी –

- किंचित कुइस आंखें!

और, वह चली गई

वह पीछे मुड़ी, तेज कदमों से बाहर निकली, और वह चली गई।

चेतनाशून्य सा मूर्तिवत, आवाक खड़ा प्रेम कुछ सोच पाता, कुछ समझ पाता, इसके पूर्व ही वह चली गई थी।

चैतन्य होकर प्रेम बाहर दौड़ा। लेकिन दूर-दूर तक वह दृष्टिगत नहीं थी। प्रेम ने संस्थान के बहिर्द्वार तक जाकर देखा था।

वापस आ कर, अपनी कुर्सी पर बैठ कर, प्रेम ने शांतचित होकर सोचा था - 'वह भागा क्यों था उसके पीछे?'

प्रेम, प्यार, रोमांस, और विवाह की बातें भी प्रेम के शब्दकोष में कहीं नहीं थे; विशेषतया अभी तो नहीं ही। प्रेम ने कभी इन विषयों पर सोचा नहीं था। इस संबंध में महिलाएं स्यात् पुरुषों से ज्यादा अग्रसोची, संवेदनशील, परिपक्व और योजनावद्ध होती हैं।

शीघ्र ही प्रेम दैनन्दिन कार्य में व्यस्त हो गया।

अपराह्न में प्रेम ने उसके छात्रावास में जाकर पता लगाया।

''. . . . दीदी ?

"वह तो कब की चली गयी। उनकी गाड़ी सुबह की ही थी।''

-छात्रावास की सेविका ने प्रेम को बताया था। वह जा जुकी थी।

वह जा चुकी थी, फिर कभी नहीं मिलने के लिये।

प्रेम को उसकी बातों पर विश्वास करना कठिन लग रहा था, कि किसी लड़की ने प्रेम को प्यार किया था या करती भी है। नहीं प्रेम ने कभी प्रेम, प्यार, रोमांस और विवाह की बातें सोची थी; नहीं सोचा था कि कोई लड़की उसे कभी प्यार भी कर सकती है।

II

किंचित कुईस आंखें।

साहित्य में काली कजरारी आंखों ने ही स्थान पाया है। लेकिन प्रेम को तो किंचित कुईस आखों ने परेशान कर रखा था।

प्रेम पसीने से सराबोर और संकुचित हो उठता था, जब कभी वह शरीर रचना विभाग के शव-विच्छेदन कक्ष में, अपना सर उपर उठाता और उसे सहास्य, शरारती आंखों से अपनी ओर टकटकी लगाये, ताकते हुए पाता था।

आंखें चुराते तत्क्षण, अपना सर नीचे कर लेता था वह, और शव-विच्छेदन की प्रक्रिया में संलग्न हो जाता था।

शव-विच्छेदन कक्षा में उसकी मेज के ठीक सामने ही पड़ता था महिलाओं के शव-विच्छेदन का वह घनकक्ष, जिसमें उस चंचल नयनी, शोख सुन्दरी का समूह शव-विच्छेदन की क्रिया सुसम्पादित करता था।

मेज के शीर्ष पर, उंचे त्रिपाद पर बैठी, वह अपने समूह के लिये पढ़ने का कार्य करती थी, जबकि कज्जल काली नागिन सी लहराती वेणी वाली प्रियंवदा, जिसकी पीठ प्रेम के सामने होती थी, शव-विच्छेदन का कार्य करती थी।

संगमर्मर प्रस्तर से निर्मित वह मेज, प्रचुर भारी होती है जिस पर रखी शवों का विच्छेदन, विद्यार्थी शरीर रचना में तंतुविज्ञान के ज्ञानार्थ प्रथम और द्वितीय बर्षों में करते हैं।

यदि मेज हल्की भी होती, तो क्या उसकी चपल, शरारती आंखों की चितवन से बचने के लिये, मेज के रुख का परिवर्तन प्रेम या उसके साथी कर सकते थे, या किसी दूसरी मेज पर जा सकते थे?

कदापि नहीं।

असंभव था यह।

क्या प्रेम, मेज के रुख का परिवर्तन करने या उसे दूसरा मेज आवंटित करने का अनुनय, विभागाध्यक्ष से इस आधार पर कर सकता था, कि एक ललना की शोख शरारती आंखों ने उझे परेशान कर रखा था?

ऐसी किसी भी हास्यास्पद धृष्टता के लिये, विभागाध्यक्ष का वह रौद्र रुप उसके सामने आ घूमता था, जिसका परिचय उसे शव-विच्छेदन की कक्षा में आने के प्रथम दिन ही प्राप्त हो चुका था।

मेजों पर रखी, चारो तरफ फैली थी काली ममीकृत शवें। काली चमड़ी के भीतर, क्षत विक्षत मांस-पेशियों के भीतर धवल कीड़ें रेंगते रहते थे, जिनसे प्रेम को बड़ी वितृष्णा होती थी।

'मैगोट्स' को रोकने के लिये फिनायल का प्रयोग किया जाता था। तब के 'फिनायल' में आधुनिक सुगंध नहीं होती थी। लाशों से उठती दुर्गंध में फिनायल की तीव्र गंध का मिश्रण, एक अकल्पनीय त्रासदी थी। उसकी कल्पना आप कदापि ही कर सकते हैं, यदि आपको कभी इस वातावरण में रहने का सुअवसर नहीं प्राप्त हुआ हो।

अब कभी ज्ञात भी नहीं होगा। क्योंकि कभी दुर्गंधयुक्त वह फिनायल भी अब मनभावन सुगंधों में मिलने लगी है। जिसे छोड़ कर आजकल के 'मैगोट्स' जाना पसंद करते हैं या नहीं, पता नहीं।

उस दिन ऐसे ही वास से त्रस्त होकर, प्रेम बगल की बेसीन पर उल्टियां कर रहा था कि पीछे से आती एक फटकार से, उसकी उल्टियां ही नहीं सांसें भी रुक गई थी।

''निकलो, भागो।''

''---'' - आवाक प्रेम को मानो सांप सूंघ गया।

‘‘जाओ। जाओ अपना नाम कटा कर। तुम चिकित्सा विज्ञान की पढ़ाई के लिये सही नहीं हो। जाओ, निकलो वर्ग से।’’

पीछे मुड़कर प्रेम ने देखा था -

उसकी ही कद या उससे भी एक इंच छोटा कद-काठी का, एक सूटेड-बूटेड व्यक्ति, अपनी लाल-लाल आंखे कपाल पर चढ़ाये, डांट रहा था।

गंजे सिर की परिधि पर ही चन्द सफेद बाल, उसे सिर होने का भान करा रहे थे, जिस सपाट गोल-मटोल अवयव पर अंगारे सी दो लाल-लाल आंखें आग उगलती चिपकी थी।

वे ‘एनाटामी’ विभाग के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष प्रो0 डा0 हक थे।

उल्टी ही नहीं, तब प्रेम की सीटी-पीटी भी गुम हो गई थी। सानुनय उसने निवेदन करना शुरु कर दिया था कि -

‘‘महाशय, कृपया क्षमा करें। अब कभी शव-विच्छेदन की कक्षा में उबकाई तो क्या छींक या जम्भाई तक भी मुझे नहीं आयेगी।’’

प्रो0 हक ने एक कड़ी ताकीद के साथ उसे अपने मेज पर जाने की अनुमति दिया।

पीछे सारा वर्ग सन्न था।

श्री शंकर साक्षी हैं, उस दिन के बाद उन शवों को जाने दीजिये, अपने चिकित्सीय जीवन में, अन्त्यपरीक्षण के लिये लाई गयी सड़ी-गली शवों से भी प्रेम को परिमल की सुगंध आती रही है।

डा0 हक से तो क्षमा मिली, लेकिन वह तो प्रेम के पीछे ही पड़ गई थी।

तो, एक चन्द्रमुखी के चपल चितवन की चपेट से बचने के लिये, क्या प्रेम अपनी पढ़ाई छोड़ कर, वह भाग जाता?

III

‘‘कलाकार या क्रैंकी?

‘‘कौन?’’

प्रेम के अग्रज यह प्रश्न सुन कर किंकर्तव्यविमूढ़ थे कि वे क्या जबाब दें।

प्रश्न ही कुछ ऐसा था कि कोई भी इस प्रश्न के बेतुकेपन से किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता।

दो कक्षाओं के मध्य अवकाश के बाद जब विद्यार्थी वर्ग में आते थे, तो सामने के श्यामपट्ट पर कुछ व्यंगचित्रों को अंकित पाते थे।

ये व्यंगचित्र किसी सहपाठिन सुमुखी सयानी की वेष-भूषा, पहनावे, संबंधित घटना या मजनूओं की आपसी लड़ाई या किसी घटना से लेकर अध्यापकों के संबंध में भी होती थी। जैसे उनकी चाल-ढाल, आकृति या पढाने की ढंग के विषय में।

मनोरंजन के उपरांत यह सभी की अनुत्तरित जिज्ञासा थी, कि इन व्यंगचित्रों का कलाकार कौन है?

अनेक नाम सुझाये जाते, लेकिन प्रश्न अनुत्तरित ही रहा था।

एमबीबीएस प्रथम सत्र का प्रथम बर्ष का प्रारंभिक काल ही था। न तो सहपाठी आपस में उतने परिचति थे या परस्पर घुले मिले थे।

उस दिन एकाग्रचित प्रेम, अपनी इसी कलाकृति में तल्लीन था, कि पिछली दरवाजे से आती चन्द चन्द्रमुखियों की चहक और चुहलबाजियों के साथ उनकी दबी खिलखिलाहट ने उसे चौंका दिया था।

पीछे मुड़ कर उसने देखा, व्याख्यान कक्ष की गैलरी में, पीछे से आने वाले दरवाजे पर दो-तीन सहपाठिनें खड़ी थी। वे सामने के श्यामपट्ट पर प्रेम को व्यंगचित्र उकेरते देख कर, व्यंगचित्रों के कार्टूनिश्ट के संबंध में अपने कौतुहल के समाधान के साथ, श्यामपट्ट पर उत्कीर्ण व्यंगचित्र पर अपनी खिलखिलाहट को दबा पाने में असमर्थ थी।

उनके आनन पर आभा थी उस नवोन्मेष का, कि उन्होने आज उस अज्ञात व्यंग चित्रकार का पता पा ही लिया, जिसने उन में से कई की नींदें हराम कर रखी थी।

'पिछले दरवाजे की तो मैने सोचा ही नहीं था?' - सहसा प्रेम, की स्मृति में कौंधा!

प्रेम पल भर आवाक, मूर्तिवत खड़ा रहा, फिर हाथ में पकड़ी खड़िया को एक झटके से फेंक, मुख्य दरवाजा खोल कर, जिस गति से बाहर भागा, संभवतः उस गति से चंचल चपला भी आकाश में विलुप्ल नहीं होती होगी।

प्रकाश्य था अब वह प्रच्छन्न, अटकलों पर आधारित खलनायक का अस्तित्व, जो नित्य श्यामपट्ट पर व्यंगचित्रों को उकेरा करता था। आज प्रेम का पर्दाफास हो गया।

'अब तो बात तो फैल गई, जाने सब कोई।'

प्रेम प्रख्यात हो गया 'कलाकार' के नाम से। शनैः शनैः प्रेम का वास्तविक नाम भूत और कलाकार नाम, उसका वर्तमान एवं भविष्य हो गया। आज भी कतिपय साथी प्रेम को कलाकार नाम से ही याद करते हैं।

मिलने आये उसके अग्रज, 'प्रेम कहां मिलेगा' की अपनी जिज्ञासा के प्रत्युत्तर में 'आर्टिस्ट या क्रैकी' प्रतिप्रश्न को सुन कर स्तब्ध रह गये थे।

''कौन? प्रेम नाम के दो विद्यार्थी मेरी कक्षा में हैं। कलाकार के संबंध में तो बता सकता हूं, लेकिन क्रैंकी प्रेम अभी कहां होगा नही जानता। संभवतः इस

समय वह होगा किसी सिनेमा हाल में। . . . आप किस प्रेम को खोज रहे हैं?''

उन्हें अपने प्रश्न की उलझन में खोये देख कर इन्दू ने अपना प्रश्न फिर दुहराया था।

हां, वह विद्यार्थी ईन्दूभूषण था।

भैया ने यह भी बताया था कि-

''कुछ क्षण मुझे सोचने में लगा कि क्या कहूं।

"क्योंकि तुम्हारी कुछ गतिविधियों से तो हमलोग भी तुम्हें क्रैंकी ही समझते हैं। फिर कुछ सोच कर मैंने बोला था-

''कलाकार का ही पता बताओ।''

रांची आने पर डा0 मेहता से मिलने प्रेम जब प्रथम बार गया था, तो प्रेम का 'विजटींग कार्ड' प्राप्त कर वह असमंजस में था, कि यह कौन कैप्टन उसका साथी है। मिलने पर साश्चर्य वह चिल्ला पड़ा था -

''अरे! 'कलाकार', तुम? मैं संभ्रम में था कि यह कौन है कैप्टन? सैन्य सेवा में गये हमलोगों के सभी साथी तो प्रायः कर्नल और बिगेडियर होकर सेवा मुक्त हुए हैं। यह कौन पिद्दी का पिद्दी अभी तक कैप्टन ही रह गया था।''

IV

प्रेम परेशान था।

पीछे ही पड़ गई थी वह।

उस दिन, जब वह अपनी चिरस्थायी सस्मित आनन, एवं शोख चपल चितवन के साथ सामने आ खड़ी हुई तो प्रेम अस्थिर हो उठा था। उसने समझा, सामना अकस्मात हो गया है। प्रेम बगले काटने लगा तो वह मार्ग रोक खड़ी हो गई, अपनी उसी अदा में।

प्रेम की तो सांसें ही अटक गई।

स्वभावतः स्रवित श्वेद के अविरल प्रवाह से प्रेम की कमीज ही नहीं, लगता था पतलून भी गीला हो जायेगा। लेकिन उसके आनन पर वही नटखट मुस्कुराहट एवं शोख अदा थी।

''मेरा 'स्केच' – एक 'पोट्रेट' बना दीजिए।''

स्वर मे अनुनय नहीं, साधिकार आदेश था।

''देखिये, मैं कोई आर्टिस्ट नहीं हूं। बस यों ही कुछ सीधी-टेढ़ी लकीरें खींच कर अपना और दूसरों का मनोरंजन कर लिया करता हूं।''

अपनी दृष्टि नीचे किये, अपनी कांपती टांगों को सुस्थिर करने का प्रयास करते हुए, हकलाते हूए प्रेम ने कहा।

''वैसी ही टेढ़ी-सीधी लकीरों में मेरा 'पोट्रेट' बना दीजिये। मेरा भी मनोरंजन हो जायगा। . . . पता नहीं, आपका होगा या नहीं?'' - अपनी उसी शोख अदा के साथ उसने व्यंगवाण छोड़ा।

प्रेम बगलें झांकने लगा था। सत्वर पिण्ड छुड़ा कर, प्रेम भागना चाहता था कि कोई देख तो नहीं रहा? अन्यथा रोमियो की श्रेणी में वह भी परिगणित होने लगेगा।

‘‘ठीक है बना दूंगा।’’- कहते प्रेम भागना चाहा तो पुनः राह रोक कर वह पूछ बैठी-

‘‘कब? झूठ नहीं बोलियेगा।’’

‘‘जल्दी ही। जरुर बनाने का प्रयास करुंगा।’’

प्रेम ने आगे कदम बढाया, तो पीछे से वही साधिकार खनकती, लेकिन मधुमिश्रित स्वर आया -

‘‘प्रयास नहीं, आपको बनाना ही है। मैं पीछा नहीं छोड़ने वाली।’’

उसने सचमुच पीछा नहीं छोड़ा था प्रेम का।

‘‘पढ़ने आये हैं, या रोमांस करने?’’ - प्रेम को डर था तो इसी प्रश्न का।

प्रेम एक ठेठ देहात से आया था, जहां महिलाओं की भांति पुरुषों की भी ‘चेस्टीटी’ होती थी। आजकल तो यह शब्द ‘चेस्टीटी’ ही निरर्थक हो गया है।

दो बर्षों तक पटना के ही प्रतिष्ठित विज्ञान महाविद्यालय में भी उसकी यह ‘चेस्टिटी’, वहां के प्राचार्य एम क्यू दोजा की कृपा से अक्षुण्ण रही थी।

विश्व विश्रुत पटना विज्ञान महा विद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य एम क्यू दोजा ने ‘इन्टरमिडिएट’ की कक्षा में सहशिक्षा का प्रावधान नहीं रखा था। उनकी दलील थी कि ‘हमारे विद्यालय में आने वाले लगभग अस्सी प्रतिशत बच्चे गांव -जवार-देहातों से आते हैं।’

संभवतः प्रेम जैसे छात्रों की सोच कर ही उन्होंने ऐसा किया था। अन्यथा 'गांव-जवार से आनवालों से उनका तात्पर्य क्या था - उनकी सौम्यता, सचरित्रता और सद्विचार या बौमड़पन एवं उज्जडपन?

प्रेम तो एक सीधा-सादा, गांव-गंवई का विद्यार्थी था। उसे लड़कियों से बातें करने में शर्म से अधिक पसीना आता था। कभी सह शिक्षा में रहा नहीं था।

मिड्ल स्कूल के चतुर्थ वर्ग में, एक बाला कुछ दिन उसकी डेस्क पर, एक साथ बैठती थी।

वह प्रेम के लिये, विद्यार्थियों के लिये प्रतिबंधित विद्यालय परिसर की बगिया से, कच्ची आमियां और कच्चे-पके अमरुदें लाया करती थी। वह प्रेम के प्रधानाध्यापक की सुकन्या थी। लेकिन शीघ्र ही उनका स्थानान्तरण हो गया था। उसकी मधुर यादें आज भी है प्रेम की स्मृतियों में।

वे बचपन के दिन थे - अवोघ, निस्पृह, निच्छल, निष्काम!

यह तो सूबे की राजधानी का हृदय पटना और शिक्षा क्षेत्र में अग्रणी चिकित्सा महाविद्यालय है। प्रेम को डर था कि झूठी-सच्ची रोमांस की कहानियां यदि प्रेम के स्थानीय अभिभावक के कानों में पड़ी तो क्या स्थिति होगी। सीधा सा, तीखा प्रश्न होता -

''पढ़ने आये हैं या रोमांस करने?''

अब तो बातें बताने के लिये बीच की एक कड़ी भी आ गई थी - माया। प्रथम वर्ग की छात्रा माया, एक संबंधी थी। दोनों - प्रेम और माया का, उस स्थानीय अभिभावक के यहां आना - जाना प्रायः होता रहता था। प्रेम की स्थिति तो उस मुहावरे सी हो गई थी –

भई गति सांप-छुछुन्दर केरी।

वह कोना, अभी नीरव, निस्तब्ध था।

प्रेम कुछ पहले ही पुस्तकालय में चला आया था।

पुस्तकालय विजन था; साथ का अंतर्क्रीड़ाकक्ष भी।

पुस्तक की खोज करते जहां प्रेम खड़ा था, वह पुस्तकालय में एक दूरस्थ, एकान्त कोना था। एक पुस्तक को हाथों मे लिये प्रेम देखने में तल्लीन था कि गर्दन पर पड़ती गर्म उश्वासों ने उसे पीछे मुड़कर देखने को बाध्य किया।

वह टकराने से बचा।

दोनों आमने सामने, इतने सन्निकट खड़े थे कि, वे तो नहीं लेकिन उनकी सांसें एक दूसरे से टकरा रही थी। श्वास-प्रश्वास के साथ, उसके वक्षोज तीव्रता से उपर नीचे हो रहे थे।

आंखों में वही शोख चमक, लेकिन उत्तेजना के उत्ताप की ललाम लालिमा में उसके ललाट और कमनीय कपोल उदीप्त थे। पता नहीं उसकी यह स्थिति जल्दी जल्दी आने के कारण थी या भावनाओं के उद्रेक से?

स्त्री-पुरुष के बीच एक सहज एवं अवचेतन आकर्षण होता है- आग और तृण सा। आग से जले नही, तो भी उष्मा से उतप्त तो हो ही जाता है शरीर।

इसके कई रुप हैं जो विविध परिस्थितियों में, विविध रुप में उत्प्रेरित एवं प्रदर्शित होते हैं। जहां पारस्परिक संबंध पूर्व सुनिश्चित है, वहां भावनाएं भी तदरुप अभिप्रेत एवं अभिव्यक्त होती हैं।

ये भावनाएं अभिप्रेत होती हैं परस्पर वय, परिस्थिति एवं वस्तुस्थिति के अनुसार सम्मान, सौहार्द, प्रेम, डर, वात्सल्य अथवा वितृष्णा के रुप में।

लेकिन जहां यह संबंध रेखांकित नहीं वहां, आकर्षण का स्वरुप सहज वासना में ही प्रतिबिंबित होता या व्यक्ति सोचता है। यह प्रकृति का विधान है।

मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षी एवं कीट ही नहीं, अपितु लता-पादप-वृंत में भी यह पाया जाता है। यह विधाता की क्लिष्ट संरचना की स्वभाविक, शारीरिक एवं स्नावयिक उद्दीपन की अवचेतन अभिव्यक्ति है। वय का इस पर विशेषाधिकार होता है।

सटते हुए, उसने प्रेम से कहा था-

मैंने आपको पुस्तकालय में आते देखा था।'' - उसका स्वर फुसफुसाहट से अधिक नहीं था। उसके गर्म उच्छवास प्रेम के चेहरे को छू रहे थे।

उस समय भीतर से उत्सृजित सहज उष्मा से, सुमुखियों के सम्मुख प्रेम को प्रायः आने वाला पसीना ही नहीं, सामान्यतः सदा तर रहने वाला तालू तक सूख गया था।

प्रेम उद्भूत, अपनी उद्दाम इच्छा को नहीं रोक सका था।

उसे अपने आतुर आलिंगन में आवद्ध कर, उसके सुचिक्कन चिबुकों, रक्ताभ गोल गालों और आरक्त ओंठों को अविकल चुंबनों से आवृत कर दिया था।

उसके सुडौल वर्तुल उन्नत उरोजों को अपने सीने से अलग करते, प्रेम ने उसे अपनी अंगुलियों की पाश में लेने का प्रयास किया।

आतुर उन्मत्तता से वह भी प्रेम से अधिक चिपक गई। लेकिन तत्क्षण ही अपने को संयत करते हुए, आलिंगन से अपने को मुक्त करते हुई बोली –

''नहीं, यह सब ठीक नहीं। यह जरुर है कि मैं आपसे ही मिलने आई हूं परन्तु यह सब ठीक नहीं। चलें कुछ देर बैठ कर बातें करें।''

आवेश के उद्रेक में, विवेक को तिलांजलि देकर, प्रेम कुछ और धृष्टता करने के लिये उद्धत होता, तभी 'प्रेम' नाम की प्रतिध्वनि ने पुस्तकालय के शून्य वतावरण को गुंजित करते हुए, उन्हें सतर्क कर दिया कि पुस्तकायल अब विजन नहीं था।

वह अब संपूर्ण स्वस्थ्यचित, सुस्थिर प्रेम के सामने खड़ी थी, लेकिन प्रेम ने अपने भावनाओं पर बड़ी मुश्किल से काबू पाया।

आह!

आग पर अयाचित तुषारापात् !

आलिंगन के आवेश्ठन से मुक्त बाजूओं से प्रेम ने झुक कर, नीचे फर्श पर गिरी पुस्तक को उठा लिया। उसने भी जल्दी जल्दी अपने अलुलायित काले कुंतलराशि को, दोनों हाथों से संवार लिया था।

''कलाकार, तुम किधर हो? तुम्हारे कक्ष में गया था। युनुश ने बताया कि तुम लाईब्रेरी में गये हो।''

वह रामचरित्तर था, 'मैगजीन सेक्सन' का सचिव, जिसका प्रेम वर्ग प्रतिनिधि था। हाथों में पुस्तक को पकड़े हुए प्रेम त्वरित गति से केन्द्रीय अध्ययन की मेज की ओर भाग़ा था।

वह कोई पुस्तक खोजने की लीला में लीनता का बहाना बनाते, पीछे ही रुकी रही।

विचार-विमर्श के बाद रामचरित्तर चला गया।

प्रेम ने आंखें उठाकर सामने देखा। मेज पर ठीक सामने एक पुस्तक खोले वह बैठी थी। लेकिन उसकी दृष्टि खुली पुस्तक पर नहीं, अपितु प्रेम के चेहरे पर चिपकी थी।

अपने आरक्त आनन को सहज स्मिति की प्रभा से प्रकाशित करते हुए, उसने पुनः पूछा था -

‘‘आप मेरी तस्वीर क्यों नहीं बना देते हैं? कब बनाईयेगा? मैं पिंड छोड़नेवाली नहीं हूं।’’ - उसके स्वर अब सुसंयत थे।

प्रेम की आंखें उसके आरक्त आनन पर टिकी, कुछ खोज रही थी। उसने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना। वह कुछ देर पूर्व की उन्हीं क्षणों के सम्मोहन में आत्मविस्मृत था।

‘‘कहां खो गये हैं? मैं आपसे ही पूछ रही हूं। मेरी तस्वीर कब बनाईयेगा?’’

-प्रेम की आंखों के सामने अपनी कमनीय हथेली को लहराते हुए, उसने पूछा।

तन्द्रा से निकल प्रेम ने कुछ कहना चाहा था, कि दरवाजे पर कदमों की आहट ने आगाह किया कि पुस्तकालय में अब आवागमन प्रारंभ हो गया है। उसने पुस्तक को बंद कर उठते हुए, अपनी चिर परिचित शोख अदा से कहा-

‘‘कल बोटिंग घाट पर आपकी प्रतीक्षा करुंगी। ठीक चार बजे।’’

‘‘ठीक है।’’ - उसकी ढीठ अदा पर सम्मोहित, प्रेम के होठों से अनायास अस्फुट सा स्वर निकल गया था।

यह सब कुछ, कुछ नया-नया था। अभूतपूर्व; अकल्पनीय था प्रेम के लिये। उसे यह भी याद नहीं था कि उसने कब, क्या कहा?

बगल से गुजरते हुए उसने फिर याद दिलाया-

‘‘कल चार बजे। बोटिंग घाट पर।’’

उसने प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा नहीं किया, नहीं उसे इसकी आवश्यकता ही थी।

स्वर वही, आदेशात्मक!

आश्वस्त, वह पुस्तकालय से चली गयी थी।

क्षणिक उन्माद जो कुछ क्षण पूर्व, पुस्तकालय के कोने में प्रेम पर छाया था अब चला गया था। प्रेम का पुरानापन उस पर फिर से हावी था। कमीज के भीतर प्रेम पसीने से लथपथ था कि –

‘वह किस दुनिया में कदम रख रहा है?’ वह सपनों में खोया था, तभी वारिस ने कंधे पर हाथ मारते हुए बोला था –

‘‘कहां खोया है, कि सुन नहीं रहा है - स्याला!’’

VI

''स्याला! -

प्रेम ने पीछे मुडकर देखा।

''तुम यहां बैठा, कैरम खेल रहा है, और वह बोटिंग घाट पर बैठी तेरी प्रतीक्षा कर रही है।'' - उस दिन 'कामनरुम' में आते ही शिवनाथ ने पीछे से प्रेम की पीठ पर धौल जमाते हुए कहा था।

''कौन?''

''कौन?'' - स्याला, भोला बन रहा है। और कौन, वही जिसे तुमने बुलाया होगा। हम तो तुम्हें सीधा-सादा समझते थे; परन्तु तुम तो छिपा रुस्तम, उस्ताद निकला।''

''अरे, ऐसा कुछ नहीं है, शिवनाथ। वह तो मेरे पीछे, अपनी पोट्रेट बनाने के लिये पड़ी है। टरकाने के लिये, मैंने उसे कल हामी भर दिया था बोटिंग घाट पर आने का।''- प्रेम ने हकलाते हुए कहा।

''स्याला, अभी पूछता था कि कौन, और फिर विना बताये जान भी गया कि 'वह कौन है'।

''स्याले, लकी कलाकार! अकेली बैठे देख कर मैंने बोटिंग का प्रस्वाव दिया था उसे। पर मुझे मना करते हुए वह बोली थी -'कलाकार आने को बोला है।'

"मेरे बोटिंग से वापस आने तक वह वहीं बैठी ही मिली है। जाता क्यों नहीं?''

पुनः प्रेम की पीठ पर धौल जमाता, शिवनाथ दूसरी मेज की ओर बढ़ गया।

कुछ देर बाद, डरते डरते प्रेम बोटिंग घाट पर गया।

उतरती संध्या के धुंधलके में घाट विजन था। उसने चैन की सांस लिया।

दूसरे दिन फिजियोलाजी की कक्षा में, कज्जल काले धूर्णित 'ड्रम' पर प्रेम मेंढक की हृदय गति को रेखांकित कर रहा था, कि पीछे से आवाज आई-

''तो आपने मुझे टरकाने के लिये बोटिंग घाट पर आने का झूठा आश्वासन दिया था?''

उसके स्वर में आक्रोश की तीव्रता से, प्रेम के हृदय की धड़कन क्षणांश को बंद होती लगी थी। ड्रम पर उभरती मेढक की हृत रेखाएं भी टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी थी, जैसे वह मेंढ़क की नहीं, प्रेम की अपने हृदय की लड़खड़ाती हृत्गति हो।

''नहीं। नहीं, मैं, मैं ---''

''में-में मत किजिये। कितने झूठ बोलियेगा?''

प्रेम सफाई में कुछ कहना चाह रहा था, लेकिन वह सुनने को तत्पर नहीं थी।

''शिवनाथजी ने मुझे सब बता दिया है। आपने मुझको टरकाने के लिये बोटिंग घाट पर आने का झूठा आश्वासन दिया था।''

('स्याला - 'शिवनाथ' - प्रेम के मन में यह गाली स्वतः ही आ गयी थी शिवनाथ के लिये।)

प्रेम कुछ आगे बोलता कि प्रो0 सिनहा को आते देख वह चुप हो गया। वह भी तिड़ी हो गई थी अपनी मेज पर।

दोनों अपनी अपनी अपनी प्रायौगिक प्रक्रिया में लग गये थे। प्रायौगिक कक्षा से निकलते प्रेम ने उससे क्षमा मांगना चाहा था। लेकिन वह विध्युत बेग से बाहर निकल गयी थी, विना प्रेम की अभियाचना को सुने।

आक्रोश से आरक्त उसका आनन, और अधिक आकर्षक लग रहा था।

दूसरे दिन शव-विच्छेदन कक्ष की महिला प्रकोष्ठ की ओर प्रेम ने डरते डरते तिरछी नजरों से देखा था –

सामने उसकी शोख, चपल चितवन नहीं, गौर ग्रीवा के बीचो बीच, नीचे, बहुत नीचे तक, उज्वल ब्लाउज के उपर, मानो डंसने को प्रस्तुत, पीठ पर नागिन सी लहराती काली वेणी थी। लेकिन वह प्रियंवदा की वेणी नहीं थी, जिसे प्रेम पहचानने लगा था।

प्रेम ने शीघ्र ही अपनी नजरें नीची कर, अपना घ्यान शव-विच्छेदन पर लगाया क्योंकि वारिस ने टोका था -

''स्याला, उधर क्या देख रहा है? डिसेक्सन पर घ्यान दे।''

दूसरे दिन प्रेम ने घ्यान से देखा था, किंचित चोरी-चोरी ही -

सामने शरारती कुईस आंखों के बदले, उंचे त्रिपाद पर बैठे, संवारी, सजी, घनी, आलुलायित, काले कुंतल उसके पीठ पर बिखरे थे। त्रिपाद अब उधर से इधर आ गया था। उसकी पीठ प्रेम के सामने थी।

एक अस्फुट वेदना के साथ, प्रेम ने चैन की सांस लिया था- 'पिंड छूटा'। लेकिन एक टीस भी कहीं उठी थी - 'आह, वे कजरारी, . . नहीं, किंचित कुईस, मनभावनी, शरारती, शोख आंखें!'

वह नाराज थी। कभी आते जाते कहीं सामना होता तो तिरछी आंखों की तीर की चुभन और उच्छवासों की उष्म ज्वाला दूर से ही प्रेम अनुभव कर सकता था।

तब प्रेम, कनियां काटते, शीघ्रता से, बगल से निकल जाता था।

VII

वह भौंचक था।

आवाक!

उस दिन एकाएक, जब वह सामने आ खड़ी हुई तो प्रेम साश्चर्य, आवाक अपनी कुर्सी से लड़खड़ाते उठ खड़ा हुआ।

कक्ष में वह अकेला बैठा था। वरीय गृह-शल्यचिकित्सक का आज उसका पहला दिन था। स्वभावत: वह आज भी कुछ सबेरे ही आ गया था, जब कि साथियों के आने और कार्य दिवस की गहमागहमी में अभी विलंब था।

उसे सामने खड़ी देख कर प्रेम हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ, और गिरते-गिरते बचा।

आज उसके आनन पर वह चिर परिचिति चपल चितवन और स्मिति नहीं थी, अपितु एक गुरु गाम्भीर्य था। लेकिन प्रेम को घबड़ाते, लड़खड़ाते, गिरते देख कर, मधुर मुस्कान के साथ उसने, उसी पुरानी अदा में आदेश सा ही दिया था -

''घबराईये नहीं, बैठ जाईये।''

और सामने पड़ी कुर्सी पर, वह साधिकार स्वंय बैठ गई।

''आज भी मैंने आपको, इतना पहले आते हुए देख लिया था। यह सोच कर कि इतना सबेरे कोई नहीं ही आया होगा, मैने अभी, यहां मिलना ठीक समझा, अन्यथा आपके आवास पर आती।''

''आवास?''

''हां, आपका आवास। मैं जानती हूं, आप कहां रहते हैं।''

प्रेम को कुछ पूछने या कहने का अवसर देने के पूर्व ही, उसने कहना शुरु कर दिया था।

लगभग पांच बर्ष का अंतराल बीत गया गया था। इस बीच पीछे बहती गंगा मे न जाने कितना पानी बह चुका था।

प्रेम लगभग क्या, पूरी तरह भूल चुका था पुरानी बातों को। यों नहीं कि इस बीच वे दोनों मिले नहीं थे, जो एक ही कक्षा में रहते असंभव था। लेकिन उन दोनों के बीच कभी कोई सीधी वार्ता नहीं हुई थी। दोनों ने एक साथ ही एमबीबीएस किया था।

लेकिन इधर लगभग छै-सात महीनों में कभी साक्षात्कार की स्मृति प्रेम को नहीं थी। दोनों कनीय गृह-शल्यचिकित्सक का प्रशिक्षण पूरा कर चुके थे - प्रेम ने शल्यचिकित्सा में तो उसने 'गाईनी' में।

किंकर्तव्यविमूढ़ प्रेम कुछ सोचता या बोलता, उसके पूर्व ही उसने कहना शुरु कर दिया –

''आपको आश्चर्य होगा इस तरह आपके सम्मुख मेरे एकाएक आने के लिये और आपकी उत्कंठा भी बिल्कुल सही है।''

''नहीं, ऐसी कोई बात - -।'' -प्रेम ने कुछ कहना चाहा कि बीच में तर्जनी से वर्जते हुए, उसने कहना जारी रखा -

''देखिये कोई औपचारिकता निभाने या (विहंस कर) फिर कोई झूठ बोलने की भी नहीं कोइ आवश्यकता है, नहीं समय। . . . नहीं मुझे कुछ स्पष्टीकरण सुनना है। बस, आज सिर्फ मुझे कहना है। आग्रह है कि आप, कृपा कर मुझे सुनते जाइये। आज नही, तो फिर कभी नहीं मुझे आपसे कुछ कहने का अवसर मिलेगा।

''मैंने भी अनिवार्य कनीय गृह-शल्यचिकित्सक का प्रशिक्षण पूरा कर लिया है और यहां से अंतिम रुप से जा रही हूं।

यही से स्नात्कोत्तर करती या राज्य स्वास्थ सेवा संवर्ग में योगदान देती तो संभावना थी कभी, कहीं हमारे मिल जाने की। लेकिन मैं बाहर जा रही हूं और आपको यह नहीं बताउंगी कि कहां?

‘‘लेकिन जाने से पहले अंतिम बार आप से मिलने की अदम्य इच्छा का संवरण मैं नहीं कर सकी हूं। बड़ी दुविधा के बाद मैंने यह निर्णय लिया है। मैं अपने को रोक नहीं पायी हूं आपसे मिलने से।’’

प्रेम सब सुनता रहा।

आज उसकी प्रगल्भता के साथ गांभीर्य्य से वह आवाक था।

‘‘मैंने सचमुच चाहा था आपको और प्यार किया था।

‘‘प्यार किया था ही नहीं, बल्कि आज भी करती हूं और करती रहूंगी। . . . पता नहीं, कब तक। शायद तब तक, जब तक भूल न पाऊं या . . . या जब तक किसी पर्याय को अंगीकार कर सकूं।

‘‘निसंदेह आप मुझे प्यार नहीं करते। इसलिये नहीं कि आप मुझे प्यार करना नहीं चाहते हैं। आपके मन में इस विषय के लिये नहीं कभी कोई स्थान था, नहीं आज भी है, यह मैं दावे के साथ कह सकती हूं।

‘‘लेकिन पता नहीं क्यों मैं प्रारंभ से ही आपको पसंद करने लगी थी। शायद कारण थी आपकी असंग और उदास सी आंखें, या पता नहीं क्या जो मैं आप में पाती हूं। आपकी कलाकारी की बातें तो बाद में मालूम पड़ी, कि वर्ग के श्यामपट्ट पर प्रायः मेरी कार्टूनें बनानेवाले आप ही होते थे।

‘‘बोटिंग क्लब की घटना के बाद यद्धपि मैने आपसे दूरियां बढ़ा ली थी। लेकिन आप सदा मेरे निकट रहे; मेरे सपनों में रहे हैं; और मेरे सूक्ष्म निगाहों के घेरे में रहे हैं। मैने सदा आप पर नजर बनाये रखा है, और कहीं उस प्रेम के धागे को भी अक्षुण्ण, जिसका तानाबाना मैंने बुना था। . . . . पता नहीं कब उससे मुक्त हो पाउंगी।

‘‘मैंने आपके साथ जीवन के सपने सजा रखे थे। लेकिन मैंने आपको सदा इस से निस्पृह पाया है। यदि आपकी कहीं, किसी के प्रति झुकाव पाती, तो मुझे अपनी असफलता पर दुःख होता और डाह भी। इसलिये मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं है। बल्कि प्रसन्नता है आप पर और अपने चयन पर भी।

‘‘पुस्तकालय में उस दिन की घटना के लिये आप दोषी नहीं, बल्कि उसका कारण मैं अपने को मानती हूं। मैंने ही आगे बढ़ने का प्रयास किया था घनिष्ठता बढ़ाने की।

“वह एक आवेश था। आग के सामने, उष्मा से कौन अक्षुण्ण रह सकता है। आपका क्षणिक आवेग उसी का परिणाम था।’’

प्रेम ने कुछ कहने के लिये मुख खोलना ही चाहा था, कि तर्जनी से पुनः वर्जित करते हुए, उसने अपना वक्तव्य जारी रखा -

‘‘आज आपको कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। कहा न कि आज सिर्फ मुझे कहना था। मुझे पूर्ण संतोष है कि मैंने अपने दिल की बात आप से कह सकी। मेरा मन हल्का हो गया।

“मुझे लगता था कि आप उस घटना को निसंदेह अबतक भूल गये होंगे। लेकिन कहीं मन में एक आशंका भी थी। संभवतः आप अपने को दोषी मानते हों और इसलिये मुझसे कतराते थे। यह विचार मेरे मन को सालता था। अपने आप को भी तो आपके सामने सुस्पष्ट करना था मुझे।

‘‘बस। अब मुझे अधिक कुछ कहना नहीं है। क्योंकि बातों से बातें बढ़ती जाती हैं, और मुश्किल होता है भावनाओं पर नियंत्रण रखना। आज भी मैं यह सब नहीं कह पाती, यदि अंतिम रुप से मैं यहां से नहीं जा रही होती या फिर मिलने की संभावनाएं होती, जो अब शून्यप्रायः ही नहीं, शून्य ही है।

‘‘बस एक अंतिम विदाई लेनी है और आशा करती हूं कि आप मेरी इस धृष्ट स्वतंत्रता लिये मुझे अवश्य क्षमा करेंगे।’’

वाक्य की समाप्ति के साथ ही वह कुर्सी पर से उठी, खड़ी हो गई।

अपनी स्वभाविक धीर, गंभीर गति से, वह मेज के इस पार, सन्निकट आयी और प्रेम को अपनी बांहों में आव्रद्ध कर लिया। उसने प्रेम के होठों, गालों और आंखों का चुंबन एक प्यासे की भांति लिया और पीछे मुड़कर द्रुतगति से, कक्ष से बाहर चली गई।

प्रेम मूर्तिवत, आवाक खड़ा रह गया। आज प्रेम ने इधर-उधर नजरें घूमा कर भी नहीं देखा कि कोई उन्हें देख तो नहीं रहा है।

एक अज्ञात, अपूर्व आंतरिक वेदना - हूक को प्रेम ने अपने हृदयस्थल में उठते पाया और क्षणांश के लिये वह चेतना शून्य सा हो गया था। उसका चेहरा स्याह पड़ गया था।

वह खो गया था उसकी बातों में और उनकी विवेचना में; उसकी स्पष्टवादिता और घटनाओं के मूल्यांकण में; उसकी प्रगल्भता के साथ ही गाम्भीर्य और संयम में। उसकी निच्छल भावनाओं में।

प्रेम को ग्लानि हुई थी उस दिन पुस्तकालय की घटना का, जब उसने उसके विशुद्ध प्यार को छिछला समर्पण समझने की भूल किया था।

निच्छल प्यार में समर्पण होता है, लेकिन समर्पण के साथ ही रहता है मर्यादा की लक्षमण रेखा और संयम की शक्ति; तृप्ति के साथ तुष्टि की सीमा भी। उसमें आतुर अधीरता नहीं रहती है, रहता है सौम्य तादात्म्य।

वासना के उद्रेक में न शुद्ध समर्पण होता है न संयम। बल्कि उसमें होती है अधीरता, जो क्षणांश में ही सब कुछ पा लेना चाहती है। इसमें न तुष्टि होती न तृप्ति; अपितु अतृप्त उद्दाम लालसा होती है। जिसके कारण ही प्रेम को संयमित होने में समय लगा था।

उस दिन प्रेम का उद्वेग वासनापूरित था, परन्तु उसका क्षणिक उद्वेग निच्छल प्यार का था जिसके कारण वह शीघ्र ही मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, अपने को संयमित कर सकी थी; उसका चित शांत था।

प्रेम चेतनाशून्य सा सब सोचते मूर्तिवत खड़ा था, -

और, वह चली गई।

जिस देश में गंगा बहती है

''जिस देश में गंगा बहती है।''

- जयराम ने उस दिन शाम को यही कहा था। पता नहीं क्या था उसका तात्पर्य?

कुछ दिन पूर्व ही इस नाम की फिल्म, एलफिंस्टन सिनेमा हाल में लगी थी। ठीक याद नहीं कब। क्योंकि राधारमण का चलचित्रों से संबंध रूचि न के बराबर ही रहा है। विद्यार्थी काल में उसके पास अतिरिक्त पैसे नहीं होते थे सिनेमा देखने के लिये, नहीं चाहत और समय ही। अब पैसे तो हैं परन्तु चलचित्रों में अनुराग के साथ समय का अभाव आज भी है उसके पास।

राधारमण को यदि कभी सुअवसर भी मिला चलचित्र देखने जाने का, तो वह न उनसे कोई उपदेश लेने गया, न उनके 'डायलाग', गाने, संवाद या कहानियां याद रखने के लिये। कुछ मर्म को छू लेनेवाली घटनाओं ने कुछ पल, कुछ दिन स्मृतियों मे स्थान पाया, लेकिन फिर विस्मृत हो गई। वह आज भी टीवी स्क्रीन पर कुछ पुरानी तारिकाओं को देख अपनी पत्नी से पूछता है - 'यह कौन है?'

कभी श्रीमती के आग्रह पर चलचित्रगृहों में साथ गया भी तो संयोग देखिये, कि सौभाग्य ने वहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। अस्पताल या निजी क्लिनिक से आकस्मिक बुलावा आ जाता था कि - 'सर, इमरजेंसी केस' आया है।'

श्रीमतीजी आज भी मानने को प्रस्तुत नहीं कि वह सब राधारमण का पूर्व नियोजित षडयंत्र नहीं होता था।

लेकिन वह भगवान को हाजिर-नाजिर मान कर, शपथ पूर्वक कह सकता है कि, ऐसी उसकी कोई योजना नहीं होती थी। परन्तु मन ही मन वह प्रसन्न अवश्य होता था कि – 'चलो सिनेमा से पिण्ड तो छूटा।'

उसे सदा लगता रहा है उबाउं और मूर्खतापूर्ण और आज भी लगता है, कि अपना पैसा खर्च कर, एक अंधेरी कोठरी में बंद होकर, ढ़ाई या तीन घण्टे दूसरों की बकवाद एवं उछल-कूद को देखते रहें।

उनकी उलजलूल बातों पर दूसरों की ठहाकों के साथ, साथवाली को खुश करने के लिये, बेमन से स्वंय भी ठहाके लगाये।

कहते हैं कि भगवान सब के हृदय की बात सुनता है, सच्ची लगन होनी चाहिये। लेकिन ऐसी कोई लगन राधारमण के मन में न तो भगवान के प्रति कभी थी, या है, नहीं चलचित्रों के पक्ष या विपक्ष में ही।

अतः उस दिन जयराम ने जो गाने का एक मुखड़ा या टुकड़ा उछाल फेंका था - 'हम उस देश के बासी हैं जिस देश जिस देश में गंगा बहती है' तो उसका परिपेक्ष्य भी सुस्पष्ट किया।

II

ग्रीष्म का आग उगलता एक दिन था।

उस दिन दोनों मित्रों की क्षुधा परवान पर थी। कितनी खोज और परिश्रम के पश्चात् वह मिली थी। सहमी, सिकुड़ी, सी ज्यों अपनी तुच्छता पर स्वंय ही लज्जित हो।

बैशाख की उस आग उगलती गरमी में, अहा! कितना आह्लादकारी था उसे पाने की अनुभूति एवं उसकी शीतल स्पर्श का सौख्य! श्रम से क्लांत उनके चेहरे पर चमक आ गई थी।

उस दिन उसका सामान्य रुप ही उन दोनों को जितना मन भाया, उतना किसी स्वर्ग सुन्दरी अप्सरा का रुप लावण्य भी उस समय नहीं भाता।

उसकी क्षीण, मलीन काया भी रंभा, मेनका, उर्वशी के सौंदर्य को भी मात करती, अधिक लुभावनी लग रही थी। सुचिक्कन उसका कलेवर, चमकता रुप-लावण्य, जो उपर पड़ी गर्द से मलीन हो गयी थी, फिर भी बड़ी अच्छी, बड़ी प्यारी, बड़ी मनभावन लगी थी।

किसी अन्य दिन यदि वह मिली होती तो संभवतः उसकी ओर वे आंख उठा कर भी नहीं देखते। छीः! निसंदेह उपालंभ एवं उपेक्षा से उसकी ओर से नजरें फेर लेते। लेकिन आज, अभी, तो वही उनकी निधि थी। अमूल्य निधि!

आतुर आवेग में उनकी सांसे फूल रही थी। धैर्य अपनी सीमाएं तोड़ने को आतुर था। निराशा में वह, एक मात्र आशा की किरण थी - उस समय उनकी दृष्टि में वह अनुपम थी; अनमोल रतन।

क्षुधातुर और उतावली में उस समय वे यह भी भूल गये थे कि उसकी छोटी, क्षीण, मलीन काया, क्या उनकी, उन दो की संतुष्टि, तीव्र क्षुधा की शांति के लिये प्रर्याप्त थी? क्या वह उन दोनों की अदम्य भूख को मिटाने के लिये सक्षम थी?

ग्रीष्म की उस तपती दोपहरी में, जब मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षी, चर-अचर सभी शान्त, श्लथ आराम कर रहे थे; वातावरण निस्तब्ध था; आतुर वे दोनों मित्र किसी की खोज में कितने व्यग्र थे। कहां-कहां नहीं ढूंढ़ा था? किस-किस कोने में नहीं झांका था, जहां मिल पाने की क्षीण भी सभावना थी?

क्षुधा - चाहें काया की हो या काम की, पेट की हो या प्रेम की - मनुष्य को उद्वेलित कर देती है; व्यग्र कर देती है। वह मन-मस्तिष्क में ऐसे छा जाती है कि समय, स्थान, परिस्थिति और अच्छे बुरे की सोच-समझ भी व्यक्ति विस्मृत कर जाता है। उस समय कुछ भी उपलब्ध अनमोल होता है; अद्वितीय होता है।

क्षुधातुर एवं कामातुर यह नहीं देखता कि उसके समक्ष क्या प्रस्तुत है। उसकी कितनी उपादेयता है और उसका क्या औचित्य है। उसके उपयोग का क्या परिणाम होगा। उस समय व्यक्ति अपना विवेक खो देता है। उस समय

उसका ध्यान केवल उस पर केन्द्रित होता है कि उसे कुछ मिला तो, अपनी भूख की शान्ति के लिये।

जयराम ने जब लरजते हुए कहा था कि - 'मिल गयी', तो जयराम की ही नहीं, राधारमण की आंखों में भी चमक आ गयी थी। जयराम ने उसे जकड़ रखा था। कस कर पकड़े था कि कहीं छिटक कर दूर न हो जाय।

राधारमण उसके पास जाकर बड़ी, लालसा और उल्लास के साथ उसे देखने लगा था। उसकी इच्छा हुई थी कि झपट कर जयराम के बंधन से उसे मुक्त कर अपने पाश में ले ले। लेकिन धैर्य के साथ, जयराम की हाथों मे ही राधा ने उसे हौले-हौले छू कर देखा था, सहलाया था।

उसके मिलने के सौख्य के आगे कुछ देर के लिये वास्तविकता के प्रति वे बिल्कुल विस्मृत थे उसकी तुच्छ काया की उपयोगिता से।

लेकिन वास्तविकता तो यही थी कि उस समय वही मिली थी - मई महीने की उस उदास, तपती दोपहरी की विजन वेला में।

III

"आ गये?"

खाट पर करवटें बदलते जयराम ने साश्चर्य पूछा था –

''आज बड़ी जल्दी आ गये।''

उस दिन वार्ड से वापस आया तो जयराम को निढाल विस्तर पर पड़ा पाया था। आज राधारमण कुछ, कुछ क्या बहुत पहले आ गया था। अन्यथा आपरेशन के दिन उनलोगों को अपराह्न ही नहीं, किसी किसी दिन रात्रि के दस्तक देने के बाद भी अवकाश नहीं मिलता था।

बिलंब के दिन विभागाध्यक्ष द्वारा, बड़ी बड़ी हांडियों में मंगाया गया कटलेट, समोसे और रसगुल्ले ही उनके दिन का कलेवा होते थे।

मई महीने की तपती दोपहरी थी। प्रखर ताप एवं झुलसाती लू के झोंके में घरों से निकलना मुश्किल था। आयोजित शल्यचिकित्सा के लिये चिकित्सालय मरीजो की संख्या में भारी कमी आ गयी थी। अत्यन्त आवश्यक अथवा आकस्मिकी के अतिरिक्त शायद ही कोई शल्यचिकित्सा के लिये आता था।

विद्यालयों में ग्रीष्मावकाश की छुट्टियां हो गयी थी। अनैदानिक (ननक्लिनिकल) वर्गों के विद्यार्थी सभी घर चले गये थे। नैदानिक वर्गों के भी चन्द विद्यार्थी ही देखे जा सकते थे। फलतः छात्रावास के अनेक मेस बन्द हो गये थे। वे ही 'प्राईवेट मेस' कार्यरत थे जिन्हे नीजि व्यवस्था द्वारा उंच वर्ग के छात्र अथवा कुंवारे या बिछुड़े गृह शल्यचिकित्सक संचालित करते थे।

राधारमण कुलानन्द की मेस का तृतीय बर्ष से ही उपभोक्ता था। उस छात्रावास के सारे उपभोक्ता अनैदानिक प्रथम या द्वितीय बर्ष के छात्र होते थे।

गृह शल्यचिकित्सक के रुप में वह पीएमसीएच (पटना मेडिकल कालेज हास्पीटल) के नवनिर्मित मिड्लक्लास पेंईंग वार्ड के कक्ष सं0 35 में रहता था, जयराम के साथ।

जयराम।

जयराम उसका पटना विज्ञान महाविद्यालय में आईएसी का सहपाठी था।

दरभंगा चिकित्सा महाविध्यालय से एमबीबीएस करने वाला जयराम, पीएमसीएच में डा0 शाही के अंतर्गत 'हाउस सर्जन' था। जयराम को उसने अपने साथ रख लिया था क्योंकि जयराम को आवास का आवंटन नहीं किया जा सकता था। वह अवैतनिक था।

सारस सी ग्रीवा, बगुले सी टांगें, पेलिकन की चोंच सी निकली लंबी, नासिका और सरकण्डे सा कृशकाय, छै फुटा जयराम गया जिला के टेकारी का रहनेवाला था।

पांच फीट ढाई इंच के राधारमण और छै फुटा जयराम! लारेल और हार्डी की भांति इनकी भी अच्छी थी जोड़ी, लंबू और छोटू की।

कमरे में राधारमण की आने की आहट सुन -

''आज बड़ी जल्दी आ गये। क्या आपरेशन्स नहीं थे?'' - जयराम ने अपनी खाट पर करवटे बदलते पूछा था।

''क्यों विश्वास नहीं होता, तो चिकोटी काट कर देख लो। सिर्फ तीन चार ही छोटे-मोटे आपरेशन्स थे। जल्दी निपट गये। चलो उठो, आज साथ ही खाना खायेंगे। क्या तुम हो आये मेस से?'' - खाट पर उसके समीप बैठते हुए राधारमण ने पूछा था।

"हां, कुलानन्द तो मेस बंद कर घर चला गया है। मैं गया था।''

''क्यों? कल तो कुलानन्द ने कुछ नहीं कहा था।''

''क्योंकि ग्रीष्मावकाश में सभी विद्यार्थी घर चले गये हैं। अतः कुलानन्द भी आज मेस बंद कर घर चला गया है।'' - जयराम ने स्पष्ट किया।

''फिर?'' -

फिर क्या?

ग्रीष्म की उस विजन, निस्तब्ध दोपहरी के समान आज उन दोनों की जेबें भी उदास सी, बिल्कुल खाली। इस समय किसी मित्र से उधार पैसे लेना भी संभव नहीं था, यदि वैसे मित्र होते भी तो। राधा के सभी साथी गृह-शल्यचिकित्सक, स्थानीय थे जो अपने-अपने घरों में रहते थे।

अन्य मेस में व्यवस्था तो आज रात्रि या कल से ही संभव था।

समस्या, अभी की, तत्काल की थी।

प्रायः उसकी जेबें खाली ही रहती रही थी, जब दिन में वह हजारों क्या लाख भी कमाता था।

प्लानिंग पर प्रायः उसका, अपने अग्रज से बहसें होती आयी थी, लेकिन राधारमण ने कभी न किया, न 'प्लानिंग' अपनाया।

''कबीरा खड़ा बाजार में, लिये लुकाठी हाथ।

जो घर जारे आपुनो, चले हमारे साथ।''

बैचलर जिंदगी में, उन दिनों तो शुद्ध पगार के दिन थे।

महीने के अंतिम चन्द दिन। राधा को वृत्तिका मिलने में देर थी। जयराम के घर से भी पैसे महीने के अंत में ही आते थे या कुछ दिन बाद। वृत्तिका मिलने पर वे कुलानन्द की 'मेस' का पिछला भुगतान कर आगे खाना पीना जारी रखते थे।

सस्ती का जमाना था। रुपये के आधे,आठ आने में भी होटलों में खाना मिल जाया करता था। मेस में खाना और भी सस्ता था।

यह राधारमण को इसलिये याद है कि जिस दिन उसके बिलंब से आने के कारण कदाचित 'मीट' समाप्त हो जाता था तो कुलानंद, राधारमण के कक्ष में ही खाना लगा कर, नीचे फर्श पर पलथी मार कर बैठ जाता था। फिर कुछ भूमिका के साथ बतलाता था –"आज पड़ोस के रीगल होटल से 'मीट' लाना पड़ा है आपके लिये। पूरे दो आने लग गये हैं। . . . जानते हैं सर, आज 'मीट' इतना अच्छा बना था कि सब, सभी चाट गये। आपके लिये बचा भी नहीं सका।"

राधारमण ठिठोली करता – "क्या बाहर से कोइ कुक बुलाया था आज?"

"क्या मैं अच्छा 'मीट' नहीं बनाता, बाबू?" - कुलानंद तल्खी से बोलता था।

"तो, फिर आज ही अच्छा क्यों बन गया जो मुझे नहीं मिला? फिर सांत्वना देना पड़ता था कि –

''ठीक है, यह राशि 'मेस बील' में अलग से जोड़ लेना। जाओ, अब खाने दो।"

उस दिन, दिन के उस समय, कहां, क्या मिलता खाने के लिये? सभी होटलों के पट बंद ही होते। होटलों में सर-सफाई कर कर्मचारी आराम कर रहे होते।

इस समय होटलों में मिल पानेवाले मात्र मिठाइयों और संभवत: चाय-अंडा से तो पेट नहीं भरते।

सभी समस्याओं और साधनों पर सम्यक विचारोपांत उस दिन समस्या आकर ठिठक गई थी -

शालिचूर्ण पर।

IV

शालिचूर्ण!

एक पौराणिक आख्यान है।

धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञोपरांत, यज्ञावशिष्ठ के बिखरे शालीचूर्ण के कणों पर लोट-पोट कर, एक नेवला का आधा शरीर स्वर्णिम हो गया था?

कभी इतना महत्व था शालिचूर्ण का। आधे भाग को स्वर्णिम बनाने के लिये वह नेवला, भटकता ही रह गया था। दुर्भाग्य, नेवला का आधा शरीर स्वर्णिम नहीं हो सका था।

फिर तो शालिचूर्ण गरीबों का आहार बन कर रह गया था।

लेकिन आज कलियुग में बढ़ते पापाचार के कारण, शालिचूर्ण के भाग्य और भाव फिर जागे है।

उसी शालिचूर्ण के लिये उस दिन राधारमण और जयराम की कहानी उस नेवले की हो गई थी और जब व्यवस्था संज्ञान में आई, तो स्थिति महाराज युधिष्ठिर और पाण्डवों की हो गई थी।

महाभारत काल में, अज्ञातवास के दौरान क्षुधातुर पाण्डवों के सामने एक दिन, एक घूंट पानी तक की समस्या आ खड़ी हुई थी। पानी की तलाश में गये कनीय चारों कुन्तीपुत्रों को शीतल जल से लबालब एक सरोवर मिला था, लेकिन उसके एक-एक घूंट पर भी प्रतिबंध था –

'विना अनुमति एक घूंट भी पानी पीना, मृत्यु का आलिंगन करना था!'

पानी की तलाश में गये अपने चारो भाईयों की वापसी की प्रतीक्षा कर, धर्मराज युधिष्ठिर उनको खोजते, स्वंय उस ताल के तट पर पहुंचे। वहां अपने अनुजों की स्थिति देख विचलित हो गये थे।

बाहुबली भीम, अर्जुन, नकुल, और सहदेव सभी तलैया के तट पर निश्चेष्ट पड़े थे। कारण था भीम का अपने बल का घमंड और शेष तीनो भाईयों की तृष्णाधीर व्याकुलता जिसके कारण पानी पीने के बलात् प्रयास में उन्हें यक्ष के कोप का भाजन होना पड़ा था।

उस तालाब का रक्षक एक यक्ष था जिसके प्रश्नों का समुचित प्रत्युत्तर देने के पश्चात ही उस ताल के जल को कोइ पी सकता था।

प्रज्ञावान, महामना युधिष्ठिर ने उस यक्ष के प्रश्नों का समाधान कर, सर्वप्रथम भाईयों को जल का पान करा कर, उन्हें जीवनदान दिया। फिर द्रौपदी और स्वंय के लिये जल लेकर, भाइयों के साथ अपने आश्रय पर आये।

भारतीय वांग्मय की विविधता है कि सभी परिस्थितियों के लिये हमारे पौराणिक साहित्य में उदाहरण प्रस्तुत हैं। वे उदाहरण कठिन परिस्थितियों में न केवल हमारा मार्ग दर्शन करते अपितु सान्त्वना भी देते और प्रेरणा के साथ उत्साह संवर्द्धन भी करते हैं।

आज महाभारत के पाण्डवों की भांति राधारमण और जयराम के सामने भी यक्ष-प्रश्नों की ढ़ेर थी। पहला प्रश्न था कि –

‘कहां मिलेगा वह दिव्य चूर्ण जिसे शालिचूर्ण कहते हैं?’

क्योंकि उस दिन, उस समय उनकी समस्या का समाधान तो शालिचूर्ण ही था।

क्षुधा से व्यक्ति की सामान्य वुद्धि कुण्ठित हो जाती है, लेकिन उसकी प्रज्ञा चक्षु खुल जाते हैं।

इसीलिये निराहार तपस्वियों को ही दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, न कि खाते-पीते साधु-संतों-महंथों और संसारिक व्यक्तियों को।

स्यात् पेट की जठराग्नि के उद्दीपन से ब्रह्माण्ड - मस्तिष्क में विवेक की मंजुषा प्रदीप्त हो जाती है। ज्ञान की मंजूषा के प्रकाशित हो जाने पर, सद्ज्ञान के मोती स्वतः चमकने लगते हैं।

एक गौतम वुद्ध ही ऐसे हुए हैं जिन्हें खाकर ज्ञान की उपलब्धि हुई थी। लेकिन वह कन्द-मूल-पर्ण-प्रसून या सामान्य खाद्य नहीं था। वह था खीर, और वह भी सुजाता के हाथों बनायी गई खीर।

राधारमण की स्मृति पटल पर चलचित्र की भांति अवतीर्ण हो गया बुढ़िया की सत्तू की दूकान, जो सामने ही परिचारिका निवास और शिशु अस्पताल के मध्य, गंगा की घाट पर जाने के मार्ग पर थी।

फिर यक्ष प्रश्न दूसरा भी था - ''वहां से आयेगा कैसे शालिचूर्ण?''

राधारमण छ बर्षों से यहां का निवासी था। यहां के सभी नहीं तो अधिकांश उसे पहचानते थे - अस्पताल के कर्मचारियों के साथ नर्सें भी।

यदि किसी परिचारिका ने अपने छात्रावास के झरोखे से, या ग्रीष्म की भरी दुपहरी में, घाट पर अवस्थित चन्द बृक्षों की शीतल छाया में विश्राम करते किसी कक्षपाल ने, बुढिये की दूकान से शालिचूर्ण खरीदते राधारमण को देख लिया, तो शालिचूर्ण के साथ उसकी प्रतिश्ठा भी शालिचूर्ण सी, हवा में बिखऱ जाती।

राधारमण कुछ कहने ही वाला था कि जयराम ने समस्या का समाधान कर दिया।

''अरे, मुझे कौन जानता-पहचानता है? मैं जाकर लाता हूं।''

गमछे से सर को ढांपे, अपनी लम्बी लम्बी टांगो पर चलते हुए जयराम यों गया और यों आया जैसे पवन का झोंका। जयराम के चेहरे पर प्रसन्नता थी। वह खुश था।

शालिचूर्ण के साथ उसे मिली थी चन्द मिर्चाईयां और दो प्याजों के साथ नमक की एक पुड़िया भी। चन्ना-मक्के की शालिचूर्ण की सोंधी सुगंध खाने के पूर्व ही अजीब तृप्ति की अनुभूति करा रही थी।

उस दिन, उस सात्विक शालिचूर्ण का प्रसाद, जीवन की एक अविस्मरणीय अनुभूति रही है, जो राधारमण के स्मृतियों की मंजूषा की एक धरोहर है। दोनों दोस्तों को बहुत ही अच्छी नींद आयी थी। जब तंद्रा टूटी -

'दिवस का अवसान समीप था; गगन था कुछ लोहित हो चला।'

-महाकवि हरिऔंध।

दोनों साथियों ने सहमति जतायी –

‘नींद तो बड़ी गाढ़ी आयी थी।’

अपनी-अपनी खाटों पर करवते बदलते दोनों ने एक दूसरे को देखा।

उस समय तक फिल्म शोले नहीं आयी थी। अन्यथा एक दूसरे को देख कर यही कहते –

“अब आगे क्या होगा, कालिया?”

आगे सामने खड़ी थी चार दिन और चार ही रातें। घिरती रात्रि सी अंधियारा था उनके सामने। तभी दरवाजे पर दस्तक पड़ी –

ठक! ठक!! ठक!!!

“इस समय यह कौन हो सकता है। लगता है वार्ड से तुम्हारा बुलावा आया है।” - कहते हुए, निकटस्थ खाट से उठते हुए जयराम ने पूछा-

“कौन?”

“मै हूं, . . मिस्त्री, डाक्टर बाबू।“

राधारमण आशंकित हो उठा। आज ही उसने मिस्त्री की पत्नी को, अथक लगन एवं परिश्रम से चिकित्सा कर, घर जाने के लिये अस्पताल से विरमित किया था। वह बहुत बुरी अवस्था में लायी गयी, गैस गैग्रीन की रोगिणी थी।

अपने गृह नगर आरा से आये इस रोगिणी की चिकित्सा का भार विभागाध्यक्ष ने, सामान्य की भांति, राधारमण को ही सौंपा था।

अपने दो छोटे-छोटे बच्चों और गोदी में लिये शिशु के साथ, मिस्त्री ने राधारमण के पैरों पर लोट कर प्रार्थना किया था कि –

“मालिक मेरी पत्नी को बचा लिजिये। इसके और इन बच्चों के सिवाय मेरा और कोइ नहीं है इस दुनिया में। यदि इसे कुछ हो गया तो इन बच्चों के साथ मैं पीछे बहती गंगा में कूद कर, सब के साथ अपना भी प्राण त्याग दूंगा। मेरे लिये अब आपही भगवान हैं।“

राधारमण ने उसे शांत्वना दिया था –

“मिस्त्री मैं भगवान तो नहीं, लेकिन आशा करता हूं कि भगवान की कृपा से तुम्हारी पत्नी को अवश्य ठीक कर पाउंगा। तुम हिम्मत और भगवान पर विश्वास रखो।”

एक दिन उस मरीज की बिगड़ती स्थिति में, परिचारिका को अपने ब्याय फ्रेंड के साथ बातें करते देख कर, राधारमण ने आक्रोश में, परिचारिका के हाथ से दवा की एम्पुल और सीरिंज को छीनकर, बिना कटर, नंगी उंगलियों से ही एम्पुल को तोड़, रोगिणी को सुई लगाया था।

क्रोध में राधारमण ने उस ब्यायफ्रेंड को बाथरूम में बंद भी करवा दिया था।

लेकिन सुहृत परिचारिका ने, जबरदस्ती राधारमण की अंगुलियों का निरीक्षण करते, डांटते हुए सा राधारमण को सप्यार फटकारा था –

“तुमने नंगी अंगुलियों से ही एम्पुल क्यों तोड़ा था? कहीं अंगुलियां कट जाती तो? तुम्हें मालूम नहीं कि तुम एक गैस गैंग्रीन के मरीज का इलाज कर रहे हो? . . आगे से ऐसी गलती कभी नहीं करना, और गुस्से पर भी कन्ट्रोल करना सीखो।”

दो-चार कदम आगे बढ़ती परिचारिका ने ठिठक कर, पीछे मुड़कर, सस्मित आनन कहा –

“हां, उसे भी बाथरूम से निकलवा दे।”

“क्या बात है मिस्त्री। सब कुशल तो है?”

-पूछते, किसी अनिष्ट की आशंका से राधारमण विछावन से लगभग कूद पड़ा।

तब तक जयराम दरवाजा खोल चुका था।

दरवाजे पर से ही, बड़े ठोंगे को पकड़े हुए, दोनों हाथों को माथे से लगाते मिस्त्री ने कहा –

"प्रणाम मालिक। घबड़ाइये नहीं । सब ठीक है। घर जाने से पहले आपको प्रणाम करने आ गया था सा'ब। आपकी मरीजा बिलकुल ठीक है। बल्कि उसी ने स्टेशन से मुझे आपके पास भेजा है।" - सकुचाते हुए मिस्त्री ने बताया।

आश्वस्त हो राधारमण अपनी खाट पर पुन: बैठ गया और बोला - "उसने कहा और तुमने उसे अकेला स्टेशन की भीड़ में छोड़कर चले आये। तुम्हारी अकल कहां थी?"

"नहीं मालिक, गांव से कुछ लोग मिल गये हैं। देखने ही आये थे आज। गाड़ी में अभी बहुत देर थी। अत: आ गया। स्टेशन पर बहुत अच्छे आम मिल रहे थे। आपकी मरीजा ने ये आम आपके लिये भेजा है।"

"तो तुम बीमार पत्नी को स्टेशन पर, दूसरों पर छोड़कर, मुझे बक्शीश देने के लिये आये हो?" – कुपित होते राधारमण ने कठोर स्वर में कहा।

"नहीं मालिक, मेरी क्या हैसियत कि मैं आपको बक्शीश या कुछ देने की धृष्ठता करूंगा। वह भी अपने भगवान को। मालिक, आप हमारे लिये साक्षात भगवान हैं, जिसने नहीं मेरी जनाना को बल्कि मेरे पूरे परिवार को जीवनदान दिया है। उस भगवान को मैं क्या दे सकता हूं।" - सहमा हुआ, विनीत स्वर में मिस्त्री बोला।

"तो, ले जाओ। यह आम तुम अपनी पत्नी और बच्चों को खिलाना। तुम्हारी पत्नी को अभी बहुत देख-भाल और खिलाने-पिलाने की जरूरत है। . . . जाओ नहीं तो गाड़ी कही न छूट जाय। तुम्हें उसके पास होना चाहिए। . . .

“देखो, अभी तुम्हें काम पर कम, उस पर अधिक ध्यान देना है।” - राधारमण ने सच्ची सद्भावना से कहा।

“हजूर, बड़ी आशा और प्रेम से यह आम मैं आपके लिये लाया हू। मैं लाया नहीं आपकी मरीजा ने भेजा है। इस छोटी सी भेंट को आप लौटा दिजियेगा तो उसे बहुत दुख होगा।” - डरते-डरते मिस्त्री ने निवेदन किया।

अभी तक, चुपचाप खड़ा, जयराम सब सुन रहा था।

उसने अपने दोनों हाथों को आगे बढ़ाकर, मिस्त्री के हाथों से ठोंगे को लेते हुए बोला –

“राधे, तुम ब्यर्थ मिस्त्री पर कुपित हो रहे हो। यह नहीं तुम्हारी फीस है, नहीं बक्शीश, बल्कि तुम्हारे मरीज की तुम्हारे उपर श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक है। इसे तुम्हें स्वीकार लेने से उसे जो खुशी और संतोष मिलेगा, उससे वह और जल्दी स्वस्थ होगी।

“मिस्त्री, आप खुशी-खुशी जाइये और अपनी पत्नी को बोल दिजियेगा कि डॉक्टर साहब ने बड़ी खुशी के साथ तुम्हारी भैंट स्वीकार किया है। तुम्हें धन्यवाद दिया है।” - ठोंगे को रखने के लिये रसोई घर में जाते, जयराम ने मिस्त्री से कहा।

आगे बढ़ कर, अपने पैरों पर झुंकते मिस्त्री को बाजुओं से पकड़ कर, उपर उठाते राधारमण बोला –

“हां, हां, . . . यह क्या कर रहे हो मिस्त्री। मेरे गुस्से को माफ करना। खुशी-खुशी घर जाओ। कभी मौका मिले तो पत्नी को दिखाने लाना।”

“हजूर, कभी आरा आपकी बदली हुई तो अपने हाथों की कारीगिरी का एक नमूना, एक आलमारी आपको भेंट करूंगा जो बराबर हमलोगों की याद आप को दिलाती रहेगी। और हम आपको दे ही क्या सकते हैं।

"भगवान से मेरी प्रार्थना है कि सभी डाक्टरों के दिल में, गरीब-दुखियों के लिये आप जैसा ही प्यार और सेवा भाव दें।"

आंखों में भर आये आंसुओं को गमछे से पोंछते हुए, मिस्त्री पुन: प्रणाम कर चला गया।

राधारमण भी भावुक हो गया था।

"मिस्त्री चला गया?" – रसोई घर से बाहर आ कर जयराम ने पूछा।

"हां, वह चला गया। गाड़ी भी तो पकड़नी थी उसे। तुम रसोईघर में क्या कर रहे थे।" - प्रश्नोत्तर देकर, राधारमण ने जयराम से पूछा।

"राधा, आमों को ठोंगे से निकाल, ताखे पर रख रहा था। ले जाते समय दिखायी नहीं पड़ा था। ठोंगे के भीतर कुछ रूपये भी थे – ये तीस रूपये।

"मैं सोचता था कि अभी तुम्हें बताउं या नहीं । क्योंकि मैं जानता था कि पैसों की बात तुम पसंद नहीं करोगे और पैसों के साथ आमों को भी वापस कर दोगे। इसी उहापोह में आने में विलंब हो गई है।" - जयराम ने स्वीकार किया।

"यह तुमने अच्छा नहीं किया, जयराम पहले नहीं बतला कर। मिस्त्री चला गया तो क्या हुआ, मैं स्टेशन जाकर ये रूपये उसे आम के साथ वापस कर आता हूं।"

-राधारमण ने ग्लानि के साथ कहा।

"देखो राघा, अब मूर्खता की बात नहीं करो। स्टेशन पर, भीड़ में, उस मिस्त्री को कहां पाओगे? ठण्ढे दिमाग से सोचो। मिस्त्री ने ये पैसे तुम्हें देने के लिये नहीं रखे होंगे। पैसे आम खरीदले समय फिरौती के पैसे हैं जिसे दुकानदार ने ठोंगे में रख दिया होगा।. . . मिस्त्री भी भूल गया होगा इसे निकाल लेने से।

"देखो राधा, इसमें बुरा मानने या दुखी होने की कोइ बात नहीं है। मेरी बात को ध्यान से सुनो और समझने की चेष्टा करो। उतावलापन ठीक नहीं ।

"यह उस गरीब की श्रद्धा थी। इतना दिन मिस्त्री यहां रहा था। कभी पैसे-रूपयों की बात या कुछ देने की धृष्ठता उसने किया? तुम्हारे स्वभाव से वह भली-भांति परिचित था। आज अच्छा होकर जाते समय, भेंट स्वरूप तुम्हें कुछ देकर उन्हें परम संतुंष्टि हुई होगी कि अपने डाक्टर साहब को कुछ उपहार दिया।

"ये फल या फूलों की भेंट, प्रेम, सम्मान, अपनत्व की निशानी हैं। क्या तुम उनकी इस छोटी सी प्रसन्नता, आत्मतुष्टि का सुख भी उनसे छीन लेना चाहते हो?" – एक दार्शनिक की भांति जयराम ने राधारमण को समझाया।

अपनी खाट पर धीरे-धीरे बैठते, राधारमण ने जयराम की बातों पर विचार किया। जयराम की बातों में सार था। एक गूढ़ भावनात्मक सचाई। उसके समक्ष राधारमण को अपना सिद्धांत एक अहं लगा। उसका उद्विग्न चित्त शांत हो गया।

अपनी उसी दार्शनिकता से जयराम बोलता गया –

"किसी के द्वारा दी गयी भेंट का मोल, उसके स्थूल मूल्यांकण से नहीं, उसमें निहित भावना, अनुराग से होती है। और –

"उसकी काया से भी नहीं, उसकी उपयोगिता से होती है; उस परिस्थिति से होती है जिस परिस्थिति एवं परिपेक्ष्य में कोइ भेंट, दिया और लिया जाता है।

"वस्तु का मूल्यांकण तो समाज और देश में व्यवहृत मुद्रा के रूप में किया जाता है, चाहे वह मिट्टी हो या चांदी-सोना–हीरे-जवाहरात। लेकिन भावनाओं एवं अनुभूतियों का मूल्यांकण, प्राप्त सुख का मूल्यांकण, रूपये पैसों से नहीं कर सकते, उसके लिये विशेषणों की आवश्यकता होती है।

"आज का ही देखो, यह शाश्वत सत्य है कि जो वस्तु हमें अविरल खोज के पश्चात मिलती है, वह कितनी भी तुच्छ हो, अति मूल्यवान होती है। कम से कम उस समय तो अवश्य।

“आज ग्रीष्म की दुपहरिया में, हमारी आतुर खोज जिस क्षुधा की शांति के लिये थी, वह क्षुधा, मन की नहीं, अन्न की थी। उस क्षुधा को एक क्षीण काया और मूल्य की, समय पर प्राप्त एक चौवन्नी ने, अपने मूल्य की सत्तू से शांत किया।

“वह मिली भी कहां? सारे वस्त्र, विछावन, कपड़े-लत्ते और बक्शों को ढूढ़ने के पश्चात, ताके पर, रद्दी समाचारपत्रों और मेडिकल बुलेटिनों के नीचे, दबी पड़ी मिली थी।

“बड़ी खोजों के पश्चात वह मिली चौवन्नी, आज कितनी मूल्यवान प्रमाणित हुई है। मिस्त्री के दिये – ”

जयराम की बातों को बीच में ही काटते, राधारमण ने व्यंग किया –

“जयराम, मुझे मिस्त्री के दिये आमों में सुजाता के खीर का सौष्ठव, प्रेम एवं प्रसाद लगता है। अपितु उससे भी बढ़ कर।

“सुजाता की खीर को खाने के बाद गौतम वुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। लेकिन तुम्हें तो मिस्त्री के दिये आमों के स्पर्श मात्र से दिव्य ज्ञान की उपलब्धि हो गयी लगती है। या यह बुढ़िया के शालिचूर्ण – सत्तू का प्रभाव है?”

“मजाक की बात नहीं है राधा। आज की घटनाएं हमें भगवान की अद्भुत लीला का भी वोध कराती है कि वह कितना दयालु है। वह पल-पल, घड़ी-घड़ी, हर जीव की सूचना रखता है और सब की सुधि लेता रहता है।

“और यह भी कि, निर्लिप्त, सच्चे हृदय से, निस्वार्थ किसी दुखिया की सेवा, निश्चय ही फल देती है, और इसी लोक में।

“राधा, हमें प्रभु की लीला समझ कर, सभी की भावनाओं का सम्मान करना चाहिये, क्योंकि हम उस देश के वासी हैं –

जिस देश में गंगा बहती है।”

वह कौन थी

''डा0 गोपाल,

''तुम आधी रात को अकेले क्यों आते जाते हो?''

एमसीपीडब्लू (मिड्ल क्लास पेईंग वार्ड) से निकल कर मैं अभी चन्द कदम ही आगे बढ़ा होगा कि सामने से आती आकृति ने मेरा रास्ता रोक कर पूछा था।

आकृति के साथ, सर पर मटमैला सफेद साफा बांधे सेवक ने हाथ में पकड़े टार्च को बुझा रखा था।

वह एक घनी काली अंधियारी, आधी रात थी।

अस्पताल परिसर के उस मार्ग पर अंधेरा था।

कुछ दूर पर अवस्थित अधीक्षक आवास के परिसर की जलती-बुझती, टिमटिमाती ट्यूबलाईट की, पीछे से आती अपर्याप्त प्रकाश उन आकृतियों की पीठ पर थी। अतः चेहरे को सुस्पष्ट देखना संभव नहीं था। यदि संभव भी होता तो मैंने नहीं इसकी आवश्यकता ही समझा था उस पल, नहीं ऐसा कोई प्रयास ही किया था उन्हें ठीक से देखने का।

''मैट्रन, आपकी भांति मुझे भी साथ चलने के लिये आदेशपाल तो नहीं मिला है जो साथ चलता?''

मैट्रन के धवल आवरण में आवेष्ठित उस सुहृदय महिला, जो राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक की ओर से आ रही प्रतीत हो रही थी, को मैट्रन समझते हुए, मैंने कहा।

‘‘देखो मैं मजाक का बात नहीं करता ’जी’। आदेशपाल या संरक्षक की बात नहीं हैं। क्या तुमको बुलाने कक्षसेवक नहीं आता है?

‘‘----’’ - मैं चुप्प रहा।

‘‘जो कक्ष सेवक बुलावा लेकर, तुम्हारे पास आता है, उसे ही रोक लिया करो अपने साथ जाने-आने के लिये। मेरे साथ भी तो यह एक कक्ष सेवक ही है।

“यों अकेले में, निस्तब्ध, सुनसान, काली अंधेरी रात में, और सुनसान पथ पर आना-जाना ठीक नहीं है। यह अस्पताल परिसर है।’’ - मैट्रन ने मुझे समझाते और सावधान करते हुए कहा था।

‘‘धन्यवाद मैट्रन। आप शायद ठीक कह रही हैं । हां, ऐसा किया जा सकता है।’’

-शुभरात्रि की कामना के साथ मैं मार्ग पर अग्रसर हो गया था विना पीछे मुड़ कर देखे या सोचे कि वे आकृतियां कौन थी और आगे किधर गयी।

वह शरद ऋतु, अक्टूबर का महीना था।

नहीं जाड़ा अभी आया था, नहीं ग्रीष्म का उत्ताप था।

राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक को जाता पथ नीरव, निस्तब्ध एवं विजन था। आगे सपाट सूनी सड़क थी। एमसीपीडब्लू के पार्श्व की परिचारिका छात्रावास की अट्टलिका की किसी बन्द खिड़की की शीशे से, छन कर आती प्रकाश की क्षीण रोशनी के अतिरिक्त, काली सपाट सड़क पर कोई उजाला नहीं था।

कुछ दूर पर राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक की बिल्डिंग, उसी अप्रर्याप्त प्रकाश में अवगोचर था।

बीच मे एक प्रकाश स्तंभ पड़ता था। वह था अधीक्षक आवास परिसर में खड़ा स्तंभ जिस पर लगी नियोन लाईट का बल्ब कुछ दिनों से आंख मिचौनियां खेल रहा था। परिसर के अनुपयोगी कोने में अवस्थित उस प्रकाश

स्तंभ की अधीक्षक महोदय को नहीं कोई उपयोगिता थी और नहीं ठीक कराने की उन्हें चाहत या परवाह ही।

मैं उस दिन रात्रि में 'हाउस सर्जन औन कौल' की ड्यूटी पर था।

समय, रात्रि का कोई एक बजे।

II

आज की संध्या बड़ी मनहूस थी।

खगौल के सन्निकट कहीं भीषण रेल दुर्घटन हुई थी। पटना मेडिकल कालेज अस्पताल के राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक का कोना-कोना दुर्घटना में आहत मरीजों अथवा आसन्न हत शवों से संकुल था।

किन्ही मरीजों को देखने और कुछ दिवंगतो को मृत्य प्रमाणित करने के लिये वार्ड से बुलावा लेकर कक्षसेवक आया था।

''भोला, तुम चलो। मैं कपड़े बदल कर आता हूं।'' - सामान्य दिनों की भांति मैंने परिचारिका द्वारा बुलावे की पंजी में हस्ताक्षर कर, कक्षसेवक को वापस कर दिया था।

पोर्टिको की सीढ़ियां चढ जब मैं राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक के प्रशस्त कारिडोर में प्रविश्ठ हुआ तो वहां नीम अंधेरा ही था क्योंकि रोगियों की सुविधा के लिये कुछ बत्तियां बुझा दी गई थी।

लम्बे - चैड़े वरामदे और वार्डो के पार्श्व के मार्ग पर भी, धवल चादरों से ढंकी आकृतियां ही नजर आ रही थी - कुछ श्य्याओं पर, कुछ जमीन पर पड़ी हुई जिन्हें शय्याएं उपलब्ध नहीं हो सकी थी।

किसी भी दुर्घटनाग्रस्त आहतों के साथ अपना कोई संगी-साथी-अभिभावक या संबंधी नहीं था। क्योंकि, निसंदेह उस दुर्घटना की सूचना अभी तक उनलोगों तक नहीं पहुंची होगी।

उन दिनों आज की भांति हर जगह दूरभाष, वेतार, रेडियो एवं टीवी आदि संवाद एवं दूरसंचार की सुविधाएं नहीं थी। मोबाईल का प्रचलन तो था ही नहीं।

आम जनता को किसी घटना-दुर्घटना की सूचना, आकाशवाणी के माध्यम से अथवा दूसरे ही दिन सुबह प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों से ही मिलना संभव था।

दुग्ध धवल आवरणों में आवेष्ठित आहतों की आकृतियां मर्फिया या पेथिडीन की सूइयों के प्रभाव में नीरव, निश्चेत पड़ी थी।

दूरस्थ एक कोने में मुझे दो परिचारिकाएं आपस में बातें करती नजर आई थी।

नीचे के वार्डों में गंभीर घायल आहतों की पूछ-बूझ और परीक्षण कर और निदानपत्र में निदेश देकर, चन्द हतों को मृत्य प्रमाणित करने के उपरांत मैं उपर चला गया।

उपरी मंजिल पर भी उसी प्रक्रिया की पुनरावृति थी।

आज अवसर नहीं था कि सामान्य दिनों की भांति, देवभूमि केराला की कजराली काली, बड़ी-बड़ी आंखोंवाली, कृष्णानन में भी अपूर्व आकर्षण एवं लावण्य को आवेष्ठित किये, स्वस्थ शरीर की सुमुखी परिचारिकाओं के साथ, कुछ क्षण बैठ कर गप्प-सप्प एवं शुद्ध, शाकाहारी चुहलबाजियां की जाय।

लेकिन मैं जब शय्याशीर्षों पर अपने निदेशों को अंतिम रुप दे रहा था, मेरी बगल में झुकते, कानों में फुसफुसाते, रोसम्मा ने धीरे से कहा था -

''आज नीचे 'इमर्जेंसी' में जया की 'डियूटी' है। वह उपर आई थी।''

''तो यह बुलावा उसकी शरारत तो नहीं? डा0 प्रकाश भी यह सब कर सकता था। मुझे बुलाने की क्या आवश्यकता थी?'' - मैंने तल्लीनता में ही कहा।

''नहीं सर। डा0 प्रकाश ने भी कहा था कि आपको बुला कर इन मरीजों को दिखा दूं। आप आ ही गये तो मृतकों का मृत्यु प्रमाणपत्र भी मैंने ले लिया है आपसे।

''लेकिन जया ने भी जोर दिया था कि 'उसको बुलाती क्यों नहीं'?''

-शरारत से मुस्कुराते हुए रोसम्मा ने बताया।

''तो यह बात है!''

''क्या आप आते समय आकस्मिकी में नहीं गये थे?''

''नहीं, सीधे उपर आ गया था।''

नीचे उतरते समय, दो तलों के बीच के उस भाग मे जहां क्षणिक गहन अंधेरा रहता है, लिफ्ट अचानक रुक गयी थी। भयाक्रांत, निश्चेत होते मेरे आंखों के सामने से एक काली छाया सी गुजरती लगी।

चेतनाशून्य, मैं लिफ्ट के दरवाजे पर गिर पड़ा।

चेतना की वापसी के साथ मुझे ऐसा लगा था कि कोई दुग्ध धवल, शुभ्र वस्त्रों में आवेष्ठित छाया, आंखों के सामने, अलका सी आलोकित हो शीघ्र ही विलीन हो गयी है। लिफ्ट चल पड़ी थी। चैतन्य होते मैंने पाया कि लिफ्ट निचली मंजिल पर खड़ी थी।

चारो ओर सफेद विछावन एवं सफेद चादरों में लिपटी आकृतियां, जिन्हें मैं नीरव, निस्पंद, निश्चेत, देख कर उपर गया था, वे अब छाया आकृतियों के रूप में चलती-फिरती, गुम-सुम, इशारों में आपस में बातें करती सी लगी।

लड़खड़ाते कदमों से, उन आकृतियों के बीच अपना मार्ग बनाते मैं आकस्मिकी कक्ष में पहुंचा, और एक खाली पड़े त्रिपाद पर धम्म से बैठ गया।

कर्तव्यासीन कनीय गृह शल्य-चिकित्सक डा0 प्रकाश अपनी कुर्सी से उठते हुए बोला - ''सर, आप इस पर आ जाईये।''

''क्या हुआ 'जी' तुम कुछ अच्छे नहीं दीख रहे?'' - सन्निकट आते जया ने मेरे कंधों पर अपनी दोनों हाथों को रखते हुए पूछा।

''क्या हुआ, सर?'' - जया के स्वर की बेसब्री और चिंता को भांपते, डा0 प्रकाश ने भी अपना स्वर मिलाया।

पीछे खड़ी जया के वक्षस्थल पर अपने सर को रख निढाल सा हो गया मैं।

डा0 प्रकाश कुछ बहाना बनाते कक्ष से बाहर चला गया था।

''इस पर आराम से बैठो और बताओ क्या हुआ है?'' - बाजूओं में बांध, मुझ को त्रिपाद से उठा कर जया ने प्रकाश की रिक्त कुर्सी पर ला बिठाया और त्रिपाद को खींचकर, स्वंय निकट बैठ गई। मेरी हाथों को अपनी दोनों नर्म, गुदगुदी हथेलियों के बीच पकड़ते हुए जया ने पूछा।

''यों ही, पता नहीं।. . . मुझे क्यों चक्कर सा आ गया था।''

-लिफ्ट में घटी घटना और छायाओं की बात, जो मेरी सोच को मथ रही थी, को छिपाते हुए मैंने जया को अधूरी बात बतायी।

कुछ आस्वस्थ होकर मैंने आवाज दिया -

‘‘भोला, मुझे मेरे आवास तक छोड़ आओ।’’

तब तक डा0 प्रकाश भी आ गया था।

‘‘क्यों न आज रात तुम ‘ड्यूटी रुम’ मे ही सो जाते, ‘जी’?’’ - जया ने सम्मति दिया।

डा0 प्रकाश ने भी इससे अपनी सहमति जताई -

‘‘सर, ‘स्टाफ’ ठीक कहती हैं, तबीयत ठीक नहीं लगती, तो आप यहीं ‘ड्यूटीरुम’ मैं सो जाईये।’’

‘‘नहीं प्रकाश। अब मैं बिल्कुल स्वस्थचित हूं। आपलोग कोई चिंता नहीं करें। भोला तुम चलो मेरे साथ।’’ - मैंने भोला को सम्बोधित करते, साग्रह कहा।

जया और डा0 प्रकाश बहिर्द्वार तक साथ आये थे।

अन्य दिन होता तो घंटो साथ बैठकर, मैं जया से गाने सुनता। जया ने बहुत ही सुरीला गला पाया था।

एमसीपीडब्लू की गेट से भोला जब जाने लगा तो मैंने उसे उपर, अपने कक्ष तक पहुंचा देने का आदेश दिया था।

‘‘सर, आप इतने डरे क्यों लग रहे हैं आज? क्या हुआ है, सर?’’ - कक्षसेवक भोला ने शंका व्यक्त किया।

‘‘कुछ नहीं भोला, डर की कोई बात नहीं लेकिन कुछ अच्छा नहीं लग रहा है।’’ - मैंने उसे सांत्वना सा देते कहा था।

लेकिन वास्तव में सांत्वना तो मुझे चाहिये थी।

‘‘तो सर, आप ‘ड्यूटीरुम’ में ही क्यों नहीं सो लिये। सर, वही चले चलिये मेरे साथ। यहां अकेले रहना ठीक नहीं होगा।’’ – कक्ष सेवक भोला ने चिंता व्यक्त करते हुए, पुनः आग्रह किया था।

‘‘नहीं भोला, तुम जाओ। अब मैं ठीक हूं।’’ - मैंने उसकी पीठ थपथपा कर बोला -

‘‘क्या याद नहीं। कल ‘आपरेशन डे’ है?’’

‘‘लेकिन सर .....?’’ - भोला कुछ हिचक के साथ खड़ा रहा।

‘‘कहता हूं न भोला, अब मैं ठीक हूं। तुम चिंता मत करना। जाओ।’’

जब मैं सुबह उठा तो वह स्वस्थ चित था, लेकिन उठने में कुछ देरी तो हो ही गई थी।

भोला विभागाध्यक्ष प्रो0 डा0 सिनहा का विश्वासपात्र, हमलोगों का संरक्षकवत, हमलोगों की इकाइ का स्थायी कक्षसेवक था।

III

''रात क्या हुआ था 'जी'?''

'जी' मेरा का संक्षिप्त नाम था जिससे परिचारिकाएं या साथी मुझे बुलाते थे।

परिचारिकाओं के बीच मेरा एक और नाम भी प्रचलित था - 'टू सीसी'। रामजी 'फिफ्टी सीसी', हरमुरारी 'ट्वेन्टी सीसी' और हीरा 'टेन सीसी' था।

उस दिन पीछे से मेरे कंधे पर अपना हाथ रखती, मैट्रन ने अपनत्व के स्वर में पूछा था। मैं अपने वार्ड की ड्यूटीरुम में बैठा कार्यरत था।

''गुड मार्निंग मैट्रन। कुछ खास बात नहीं?''

मैंने प्रत्युत्तर दिया।

''लेकिन लड़कियां आपस में कुछ बातें कर रहीं थी तुम्हारे विषय में कि रात तुम कुछ विचलित से थे किसी बात को लेकर। जया ने मुझे बताया है।''

- प्रौढ़ मैट्रन के स्वर में ममत्व के साथ चिंता का पुट था।

''कोई खास बात नही थीं, मैट्रन।'' - मैंने बात को टालते हुए कहा था।

कुछ रुक बोला -

''संभवतः रात आपकी बातों से मैं कुछ भयभीत हो गया था। रात की आपकी सुसम्मति के लिये धन्यवाद, मैट्रन।''

''रात की मेरी बातें? रात की मेरी 'एडवाईस'? यह सब क्या सब बोलता है, 'जी'?

मैट्रन आश्चर्यचकित थी -

''रात? मैं? तुमको कब मिला था? यह क्या बोलता है, मैन?'' - साश्चर्य मैट्रन ने कहा।

चौंकने की बारी अब मेरी थी। मैंने सशंक पूछा -

"क्या आप मुझसे नहीं मिली थी, जब आप 'आरएसबी' से अपनी 'राउण्ड' से वापस लौट रहीं थी और मैं 'एमसीपीडब्लू' से, वार्ड से काल अटेंड करने आ रहा था? लगभग एक बजे रात में, मैट्रन?"

''क्या बोलता है 'जी'? मैं कब मिला तुमसे? उस समय तो मैं सो रहा था। मैंने अपना 'राउण्ड' तो साढ़े बारह बजे ही समाप्त कर लिया था।''

''मरीजों की भीड़ में हमको लड़कियों को बहुत कुछ समझाना था कि तुम सब घबड़ाना नहीं। अतः खाना खाने के बाद ही राउण्ड पर आ गया था कि लड़कियां घबड़ाये नहीं।'' - मैट्रन ने अपनी सफाई दिया।

''मैट्रन, कृप्या मुझे 'फूल' नहीं बनाईये। आपके साथ आपका अनुचर भी था, और हमलोग 'एमसीपीडब्लू' के गेट के सामने, खड़े-खड़े कुछ देर बातें भी किये थे।"

मैंने सोचा मैट्रन मजाक कर रही हैं।

''नहीं 'जी', मैं जीसस के नाम पर कहता है। मैं रात तुमसे कभी, कहीं नहीं मिला था। तुम क्या बात करता है?"

मैट्रन आश्चर्यचकित होते हुए पुनः बोली थी -

''लड़कियों, बताओ ना 'जी' को कि हम कब आया था।''

सहसा मुझ को भी याद आया कि कल रात जया ने भी साश्चर्य कहा था -

''तुम मैट्रन से मिले थे? क्या मैट्रन अभी फिर आई थी लौट कर? मैंने तो नहीं देखा था।''

''मजाक नहीं मैट्रन, मैं सच बोल रहा हूं। वह आप नहीं, तो फिर 'वह कौन थी'?'' - मैंने पुन: जिज्ञासा किया।

'''जी' तुम बाज नहीं आयेगा मसकरी से। हम नहीं, तुम हमको 'फूल' बना रहा है'' - प्रौढ, सुहृत मैट्रन ने मेरे गाल पर एक चप्पत लगाते बोला था।

''नहीं मैट्रन में सच्ची बात कर रहा हूं। वह आप नहीं थीं तो कौन थी, आपकी ही पोशाक में, वार्डब्वाय के साथ?''

आश्चर्य चकित मैट्रन कुछ कहती, तभी चैंबर से विभागाध्यक्ष का मेरे लिये बुलावा आ गया।

''गोपाल, क्या रात तुम्हारी तवियत कुछ खराब थी, भोला ने बताया है।"

- विभागाध्यक्ष ने, स्वर में कुछ चिंता और कुछ आक्रोश के साथ कहा था -

''फिर ड्यूटीरुम में ही क्यों नहीं सो गये थे। मेरे कक्ष की एक चाबी भी तो तुम्हारे पास रहती है। अकेले वहां सोने के बनिस्पत यहां रहना ठीक होता।"

- यह बास की फटकार थी।

''तबीयत ठीक नहीं तो आराम करने जा सकते हो।''

''नहीं सर, अब मैं बिल्कुल ठीक हूं। भोला व्यर्थ ही परेशान हो रहा था रात।''

- मैंने क्षमा याचना के स्वर में कहा।

आज दिन भर मैं परेशान रहा रात की घटना से।

'वह मैट्रन नहीं थी, तो थी कौन?'

- क्या यह सब कुछ मेरा का स्वप्न था, भ्रम था?

- बंद होते लिफ्ट में श्याम और श्वेत छायाएं? सब क्या थी?

मेरे शरीर में एक सिहरण सी व्याप्त हो गयी।

- यदि स्वप्न था तो भोला ने मेरे विषय में बास को क्यों और कैसे बताया?

यदि सब कुछ स्वप्न नहीं सत्य था तो 'क्या वे सभी आत्माएं थी -

-वह मैट्रन, जिसने रात में मुझे अकेले आने जाने से सचेष्ट किया था; वह काली छाया, जिसने चलती लिफ्ट को बंद कर दिया था; वह शुभ्र सफेद छाया, जिसने लिफ्ट को पुनः चालू कर दिया था?

- क्या तीनों एक ही आत्मा थी या वे भिन्न भिन्न आत्माएं थी?

- क्या शुभ्र श्वेत परिधान में मैट्रन की रुप में सचेश्ट करने और बंद लिफ्ट को चालू करने वाली आत्माएं अच्छी आत्माएं थी और अंधेरे में, संधिस्थल में काली परिधान में लिफ्ट को बंद करने वाली कोई बुरी आत्मा थी?

- क्या आत्माएं भी अच्छी और बुरी होती हैं?

- क्या अच्छे आदमी की आत्मा अच्छी और बुरे आदमी की बुरी आत्मा होती है?

- क्या मृत्यु पश्चात् भी व्यक्ति की आत्मा का स्वभाव नहीं बदलता है?

कहते हैं आत्मा विशुद्ध और निर्मल होती है। तभी तो कहा जाता है कि किसी विभ्रम की स्थिति में आत्मा की आवाज सूनो।

-यदि आत्मा विशुद्ध और निर्मल होती है तो फिर व्यक्ति को अच्छा या बुरा कौन बनाता है? वह कौन शक्ति है?

-क्या व्यक्ति को अच्छा या बुरा आत्मा ही बनाती हैं? तो, आत्मा निर्मल कैसे हुई?

- क्यों कहा जाता हे कि अपनी आत्मा की आवाज सूनो?

पूरे दिन और उस रात में भी मेरे मस्तिष्क में प्राय: ऐसे बहुत से प्रश्न आलोड़ित विलोड़ित होते रहे थे।

IV

आत्मा तो एक शक्ति है।

एक उर्जा है; प्राण वायु है जो पंचतत्वों से संरचित इस स्थूल आकृति को जीवन प्रदान करती है। आत्मा के निकल जाने पर यह स्थूल पिण्ड, मात्र मिट्टी का पुतला रह जाता है, जो सड़-गल-पच या अग्नि से प्रदाहित होकर पंचतत्वों में विलीन हो जाता है।

यही शास्त्रोक्त है।

मैंने कभी पढ़ा था, जब मैं उंच्च विद्यालय का विद्यार्थी था, 'विज्ञान हस्तामलक' नाम की एक पुस्तक। विद्वान लेखक श्री राम प्रसाद गौड़ ने आत्मा एवं भूत आदि पारालौकिक शक्तियों के अस्तित्व की अवधारणा को प्रतिपादित किया था। उन्होंने वैज्ञानिक खोजों का भी उल्लेख्य किया था। उसके बाद भी अनेक आलेख एवं साहित्य पढ़ने को मिलते रहे हैं जिसमें आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है।

आजकल भी विज्ञान की उन्नति के साथ उन पारालौकिक शक्तियों, आत्मा की उपस्थिति को विभिन्न यंत्रों के माध्यम से छायांकित, ध्वन्याकिंत कर प्रतिपादित करने का प्रयास किया जाता रहा है।

शोधकर्ताओं, वैज्ञानिकों को इनकी अनुभूतियां, छायांकण या ध्वान्यांकण के लिये विशिष्ठ संयंत्रो का सहारा लेना पड़ता है। फिर भी वे इनके अस्तित्व की नहीं स्पष्ट परिपुष्टि करते हैं, नहीं नकारते ही हैं? केवल संभावनाएं अस्वीकार नहीं करते हैं।

विडंबना है कि आत्मा की, विना वैज्ञानिक उपकरणों के भी अनुभूतियां, दर्शन, निम्न वर्ग के, अपढ़-गंवारों, आदिवासियों या मध्यम वर्ग के सामान्य

ज्ञानवालों को अनायास ही हो जाता है जिसे वे भूत या चुड़ैल के रुप में अभिव्यक्त करते हैं।

क्यों?

क्यों, विना किसी वैज्ञानिक संयंत्र अथवा उपकरण के, ये आत्माए, देवी - देवताएं और भूत-प्रेत केवल उन्हीं लोगों को अपना माध्यम या उपस्थिति का आधार बनाती हैं जो अशिक्षित, अल्पशिक्षित गवांर, देहाती और प्राय: निम्नवर्गीय समाज से आते हैं?

क्यों प्रवुद्ध नागरिकों को इन आत्माओं, भूत, प्रेत, चुड़ैलादि की अनुभूतियां, साक्षात्कार नहीं होते हैं? उन्हें वैज्ञानिक संयंत्रों की आवश्यकता पड़ती है।

जहां शिक्षित, शोधकर्ताओं और वैज्ञानिकों का एक वर्ग आत्माओं की उपस्थिति का संपोषक हैं, एक वर्ग ऐसा भी है जो इन भूत, प्रेत आदि को दुर्बल मन की परिकल्पना और मानव की मानसिक दुर्बलता मानता है।

अनेक प्रश्न हैं जो उस दिन और आज भी मेरे मस्तिष्क में आलोड़ित-विलोड़ित हुए, एवं होते रहे हैं।

उस रात्रि मेरे साथ में संघटित कुछ बातों पर तो बहस और वैकल्पिक संभावनाओं पर विचार किया जा सकता है, जैसे-

- कि लिफ्ट स्वतः अपनी सर्किट से विछिन्न हो गया होगा जैसा कि कभी कभी हो जाया करता है।

-कि क्षणिक निश्चेतना की प्रारंभिक स्थिति में, मैंने आंखों के आगे छा जानेवाले अंधेरे को काली छाया और फिर चैतन्य लाभ करते, छंटती धुंध को सफेद छाया मान लिया था?

- निर्जीव सा लिफ्ट पर मेरे गिर जाने के कारण, मेरे हाथों की आघात से लिफ्ट का विछिन्न विध्युत सर्किट पुनः संस्थापित हो गया था, और लिफ्ट चल पड़ी थी?

-शय्या से उठकर छायाओं का आवागमन और आपस में मूक संवाद भी मेरे चित का भ्रम था?

लेकिन शुभ्र श्वेत परिधान में साकार, उस मैट्रन से तो मेरी मुलाकात और बातें मेरी पूर्ण चैतन्य अवस्था में हुई थी। यदि वह मैट्रन नहीं थी तो थी वह कौन थी?

क्या वह कोई आत्मा नहीं थी?

भूत होता है।

यह निर्विवाद, शाश्वत सत्य है कि भूत होता है।

जो कल था, और आज नहीं है, वह भूत है।

रही बात भूत को देखने की, तो यह व्यक्ति की वुद्धि और कल्पना पर आधारित है।

किसी भी भूत वस्तु या उसकी स्थिति की परिकल्पना हम अपनी अलग अलग सोच, वुद्धि के अनुसार कर लेते हैं।

यदि हमनें उस व्यक्ति को देखा है या उन परिस्थितियों से अवगत हैं तो हम उसे उसी व्यक्ति और परिस्थितियों के परिपेक्ष्य में देखते या कल्पनाएं करते हैं चाहे स्वप्न में या जागृत अवस्था में।

जिसे देखा नहीं, उसकी कल्पनाएं, बीते कल अर्थात भूत की कल्पना, अपनी सोच, अपना वुद्धि एवं कल्पना की शक्ति और अभिव्यंजना के अनुरुप सुचित्रित या विकृत करते हैं।

वैज्ञानिक जिन भूत या भूतकालीन घटनाओं को देखते या अंकित करते हैं वे उसी प्रकार सुस्पष्ट या अस्पष्ट होते हैं जितना उनका संयंत्र संवेदनशील होता है और जितनी उनकी स्वंय की समझने और अभिव्यंजना की शक्ति होती है।

मेरी सम्मति में यदि सामान्य मानवीय परिकल्पनाओं के भूत होते भी होंगे और मनुष्य को नुकशान या परेशान करते भी होंगे तो तीन स्थानों पर व्यक्ति उनसे निरापद रह सकता है। वे स्थान हैं श्मसान, अस्पताल और युद्धक्षेत्र।

इन स्थानों पर भूतों का वास होता ही नहीं है।

यदि श्मसान या अस्पताल में भूत होते हैं, तो इन स्थानों पर भूतों की संख्या इतनी होती हैं कि उन्हें अपने अस्तित्व के लिये आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहने के कारण, जीवित प्राणियों के संबंध में सोचने का समय ही नहीं मिलता होता है।

युद्धक्षेत्र में भूत होते ही नहीं।

क्योंकि वीर सैनिक सदा अपनी धवल कृति में जीवित रहते हैं - अमर, अविनाशी। नहीं वे भूत होते,नहीं उनकी धवल कृतियां।

आत्मा अमर हैं, अस्वरुप हैं, अतः अगोचर हैं।

तो क्या आत्मा ही भगवान है, जो अजन्मा, अमर, निराकार है?

अद्वैतवाद कहता है - ''एको अहम्, दूजो नास्ति'' या ''सोअहं'' - अर्थात तुम ही मैं हूं या मैं ही तुम हो। या तुम, तुम नहीं, वह मैं ही हूं।

एक ईश्वर ही सभी रुपों में, समग्र व्याप्त है।

लेकिन प्रश्न तो वही आ फिर ठिठक जाता है कि 'मैट्रन के स्वरुप में मुझे सचेष्ठ करनेवाली -

'वह कौन थी?'

विचारों या स्वप्न के भंवरजाल में, संभवतः मैं कुछ जोर से बोल पड़ था -

"वह कौन थी"

तभी, वीणा की झंकार सी, मृदु स्वर ने मेरी तंद्रा को तोड़ दिया -

''उठिये, चाय लीजिये। दिन के आठ बज गये। अभी तक सोये पड़े हैं और दिवास्वप्न देख रहे हैं।''

उनींदी आंखों से ही वीणा के मदिर स्वर-झंकार की ओर देखा था मैंने -

'अलुलायित, घने, काले, कुंतलराशि से टपकती बून्दों के साथ, सध्य स्नाता, सुमुखी, स्मितवदना, सहधर्मिणि, हाथ में चाय का प्याला पकड़े, सम्मुख खड़ी थी।

शकु ने उलाहने के स्वर में कहा -

''फिर तो नहीं खो गये अपनी 'वह कौन थी' में? लीजिये चाय, नही तो ठण्डी हो जायेगी।''

उठ कर बैठते, प्याला पकड़ने के बदले, मैंने अपने दोनों बाजूओं में पत्नी की कृश कटि को आवद्ध कर लिया।

ब्लाउज के उपर, उन्नत उरोजों के बीच, वक्षस्थल के नग्न स्थान की गोरी गहराईयों में अपनी नासिका को डुबोते, गहरी श्वास लेते बोला था-

''जानती हो न तुम, कि तुम्हारे वक्षस्थल के बीच इस गह्वर से मुझे सदा जैसमीन की भीनी सुगंध आती है?''

''चलिये, छोड़िये अपनी झूठी चापलूसी और ठिठोली।'' - लरजते हुए कामिनी ने तिरछी निगाहों की तीर फेंकते कहा और झुक कर, मेरे माथे को सप्यार चूम लिया।

''जानती हो शकु, 'वह कौन . . . '' - मैं ने आगे और कुछ कहना चाहा था।

लेकिन प्यार की पकड़ से अपने को छुड़ाते हुये, पत्नी ने झिड़कते हुये कहा -

''छोड़िये मुझे, और रखिये अपनी बे सिर पैर की बातें। बहुत काम पड़े हैं अभी मुझे।''

मक्खन की डली की विच्छल चिकनाई सी फिछलती, चपल चपला सी वह शयनकक्ष के बाहर थी, पीछे छोड़ अपनी उपस्थिति की मादक, मीठी सुगंध और मधुमिश्रित स्वर की गूंज -

''पड़े-पड़े, दिवास्वप्न देखते रहिये, अपनी उस की -

वह कौन थी।''

दस नया पैसा, और अपने-पराये

'प्रणाम डाक्टर साहब।''

गहन चिंता से चौंक कर, उसने पीछे मुड़ कर देखा -

अभिवादन की मुद्रा में, अपने दोनों करों को जोड़े जनार्दन जी खड़े थे। उनके गंभीर चेहरे पर मृदुल हास्य था। बहुत दिनों बाद मिलने की उत्फुल्लता।

केशव का मुख मलिन हो गया था। अभिवादन का जबाब देते हुए कुछ अस्थिर सा हो उठा। कुछ सकुचाते, हकलाते हुए उसने कहा-

''जनार्दन जी, मुझे ग्लानि है कि मैंने अभी तक आपके --''

''डाक्टर साहब, यदि आप सोचते हैं कि मैंने उसके के लिये आपको टोका हैं तो आप गलत हैं। यदि आपकी भावना ऐसी है तो, आगे से, आपके सामने से गुजरते हुए भी मैं अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर लूंगा। आपने ऐसा कैसे सोच लिया?

''मैं तो आपको यहां सुबह - सुबह बस स्टैण्ड पर देखा, तो मिलने चला आया।'' –जनार्दन जी के शब्दों में वास्तविक क्षोभ था; दुःख था।

केशव के पुनः लज्जित होने की बारी थी। वह पहले से अधिक संकुचित हो उठा।

''क्षमा करें जनार्दन जी कि मेरे मन में ऐसे क्षुद्र विचार आपके प्रति आये। मैं आपके उपकार के लिये कृतज्ञ हूं।''

''फिर वही बात। डाक्टर साहब, आपस में उपकार कैसा? आप मुझे दूसरा मान रहे हैं। खैर छोड़िये इन बातों को। सबेरे सबेरे बस स्टैण्ड पर? खाली हाथ, बिना किसी सामान के?''

जनार्दन जी के स्वर में निहित अपनत्व और स्नेह से केशव भींग गया था।

‘‘कुछ आवश्यक कार्य से हाजीपुर जा रहा हूं। तुरंत वापस आ जाना है। . . . आप?’’

‘‘--से रात की बस से . . . . आया हूं। वापस घर जाना है।’’

परस्पर शुभकामनाओं के आदान-प्रदान के बाद दोनों विलग हुए।

वह मुजफ्फरपुर का बस स्टैण्ड था।

II

मुजफ्फरपुर का बस स्टैण्ड।

टिकट खिड़की से निकलते केशव चिंतित था।

आज से ही बिहार राज्य सड़क परिवहन ने मुजफ्फरपुर से हाजीपुर के बस भाड़े में दस नये पैसे की बढ़ोतरी कर दिया है।

इसकी जानकारी, केशव को टिकट खिड़की पर हुई। उन दिनों केशव के लिये एक एक पैसा मूल्यवान था। यह तो पूरे दस पैसे की बात थी।

उसके पास कुल उतने ही पैसे थे कि वह हाजीपुर जाकर, वापस आ सके। भाड़े के अतिरिक्त एक ही रुपया अधिक था, कि ग्रीष्म की तपती दोपहरी में वह हाजीपुर बस सटैण्ड से अपने गन्तव्य तक और वहां से वापस बस स्टैण्ड तक रिक्से पर जा और आ सके।

बस भाड़े में इस दस पैसे की बढ़ोतरी ने उसके बजट को गड़बड़ कर दिया था। यदि एक रुपये को वह रिक्सा भाड़ा में खर्च कर देगा तो वापसी के समय उसके पास बस भाड़े में पूरे बीस पैसे की कमी हो जायेगी; और इतने कम पैसे में उसे बस का टिकट नहीं मिल पायेगा।

केशव की दुश्चिंता का कारण यही था।

जनार्दन जी से विदा पश्चात् उसने फिर सोचना शुरु कर दिया –

‘उसे हाजीपुर से निराश लौटने का कोई कारण नहीं दिखता। वापसी में तो उसके पास प्रचुर पैसे होंगे। केशव ने सोचा। लेकिन सैन्य सेवा ने उसे परिस्थितियों के प्रत्येक पहलू पर पूर्व से ही सोच रखने की सीख दी थी। विपरीत परिस्थितियों की संभावनाओं को भी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये।

यदि पैसे नहीं मिले तब?

केशव ने पुनः सोचना प्रारंभ कर दिया। वैसी परिस्थिति में, यदि उसने पैसे रिक्से में खर्च कर दिये होंगे तो फिर बस का टिकट का मिलना तो संभव था ही नहीं । तब उसे हाजीपुर स्टेशन पर रात्रि तक किसी गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; वह भी भूखे - प्यासे।

उन दिनों इस मार्ग पर रेलगाड़ियों का आवागमन आज की भांति निरंतर नहीं था। गाड़ियों का समय कब है, क्या है, केशव को कुछ मालूम नहीं था। लेकिन उसे लगता था कि निसंदेह ट्रेन भाड़ा, बस भाड़े से कम होगा । लेकिन वास्तविता पता नहीं क्या थी।

और यदि रेलभाड़ा में भी पैसे कम पड़ गये तब?

क्या संभव था कि केशव हाजीपुर से मुजफ्फरपुर - पूरे पचहत्तर कीलोमीटर पैदल चल कर आता?

अतः हाजीपुर में रिक्से में पैसों के अपव्यय तो त्यागना ही श्रेयस्कर था - किसी भी परिस्थिति में।

लेकिन जेठ की तप्त दुपहरी की सोच केशव सिहर जा रहा था। दुपहरी में बस स्टैण्ड से गन्तव्य, पता नहीं कितना दूर होगा? यदि नजदीक भी होगा तो क्या केशव के लिये संभव था? उसे तो थोड़ी दूर भी पैदल चलने की आदत नहीं थी। फिर उतप्त ग्रीष्म की उस दूपहरी में? सोच कर ही केशव को अभी ही पसीने आ गये।

विकल्प?

'व्यर्थ की बाते सोच कर क्यों परेशान हो रहा हूं' - केशव ने अपने मन को आश्वस्त करना चाहा था; दिलासा देना चाहा कि हाजीपुर से वह कदापि निराश वापस नहीं आयेगा। इसकी कोई संभावना उसे नहीं लग रही थी। डीके ने उसे स्वंय हाजीपुर आने को कहा था और राशि भी कोई बड़ी नहीं है।

केशव के वे भीषण गर्दिश के दिन थे। भले आज केशव के लिये सैकड़े, हजारों क्या लाखों पर भी माथा-पच्ची का प्रश्न नही है।

परन्तु वे दिन!

वे दिन भी, क्या दिन थे?

उन दिनों को केशव ने स्वंय ही तो खरीदा था, अपने सिद्धांत, स्वाभिमान का मोल नहीं कर। सिद्धांत एवं सत्य पथ पर चलने वालों ने सदा कष्ट उठाये हैं। हरिश्चन्द्र तो राजा थे लेकिन किन-किन कष्टों से नहीं उन्हें गुजरना पड़ा था दुःख के दिनों में।

ऐसे पौराणिक आख्यान संबल, सहारा होते हैं और बाधाओं से लड़ने की इच्छाशक्ति भी प्रदान करते हैं। जिजीविषा को बनाये रखने की प्रेरणा श्रोत होते हैं।

केशव के उस दुर्दिन में भाईयों में किसी ने उसके 'मुंह पर थूक' देने की अपनी इच्छा का दमन किया था तो किसी ने उसके चरित्र के चिथड़े उड़ाये थे। कहते हैं दुर्दिन में अपनी छाया भी साथ छोड़ देती है।

केशव के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था सिवाय उसकी सृहृत, सहगामिनी, सहधर्मिणी के जो उन दिनों वस्तुतः उसकी छाया बन कर ही नहीं, एक विशाल बरगद की छाया सी छायी रही थी उसके उपर; उसके चारो ओर शान्ति, शीतलता और संपूर्ण विश्वास के साथ, सौहार्द की प्रतिमूर्ति बन कर।

कितने भयानक थे वे दिन जब झूठे लांछन, गलत आरोप, दूसरे की दोष के लिये प्रताड़ना, अप्रतिष्ठा, अपमान, अवहेलना, अनावश्यक दौड़-धूप, असुरक्षा, अपव्यय और अनिवर्चनीय आर्थिक कष्ट से केशव को गुजरना पड़ा था।

सभी कहते थे -'अवश्य गलती किये होगें'। लेकिन एक सबल संबल था उसका, अपना 'अपराध वोध का नहीं होना'। वह समय भी आया जब

लांछन पर उंगलियां उठानेवाले ही कहते मिले -'तुम्हारे साथ यह सब कैसे हो गया? तुम्हारा तो कोई दोष नहीं था'।

समय बड़ा बलवान है और उसके सामने कभी किसी की नहीं चली है।

कहते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों से पाठ लेता है। लेकिन केशव ने क्या कोई पाठ लिया? क्या अपने सिद्धांतों से समझौता किया? अपने पथ में परिवर्तन किया?

नहीं।

अपने इन दुर्दिनों में भाग्यवादी नहीं होते हुए भी केशव मानने को बाध्य हुआ कि ज्यौतिष एक समर्थ विधा है और ग्रहों का प्रभाव अटल होता है। पीर पैगम्बरों की बातें भी केशव को रुढ़िवादी लगती थी। इस अवधि में उसने सभी तरह के पापड़ बेले थे। कुछ अनूठी उपलब्धियां भी केशव की झोली में आयी।

''तुम्हारी गलती यही है कि दुर्जनों की जमात में हो। अतः परेशानियों को भोगना ही पड़ेगा। लेकिन अंततः सब साफ हो जायेगा। तुम निदाग निकल आओगे। लेकिन समय के चक्र और ग्रहों की दशा तो भोग्य होती ही है।''

-मुजफ्फरपुर के दाता बाबा पीर के मजार पर, सब कुछ सुन कर रामजीबाबू ने कहा था।

बुजुर्ग रामजीबाबू हिन्दू थे, एक कायस्थ थे। लेकिन वे दाता पीर के मजार पर प्रमुख सेवक थे। अंत में उनकी वाणी, कितनी सटीक निकली !

एक दिन न्यायालय द्वारा केशव सभी आरोपों से मुक्त कर दिया गया। निलंबन से निमुक्त केशव अब अपनी पदस्थापना की प्रतीक्षा में था जिसमें लगभग दो साल लगे। यह थी भ्रष्ट बिहार सरकार की कुत्सित स्वास्थ्य सेवा में व्याप्त आपादमस्तक भ्रष्टाचार और कार्य प्रणाली।

बिलम्ब का कारण था चपरासियों के टिप्स से लेकर लिपिको, पदाधिकारियों, एमएलए, एमपी आदि जनप्रतिनिधि एवं मंत्रियों तक घूस देने में केशव की सैद्धांतिकता और आर्थिक असमर्थता भी।

परन्तु इसके विना पदस्थापना की संचिका का सरकना था भी तो संभव नहीं।

सूखी पैरवी के लिये भी तो सचिवालय की दौड़-धूप अनिवार्य था।

III

केशव अब मुजफ्फरपुर चला आया था।

यहां से पटना जाना-आना निकट और आसान था।

पटना जाना जरुरी था। एक दिन पूर्व एक स्थानीय संबंधी से लज्जा विसार कशव ने मुंह खोला था एक सौ रुपये के लिये। देने को बोले थे वे लेकिन शाम को एक स्थान से आने के बाद, जहां दोनों को जाना था। एक संबंधी के यहां डकैती हो गई थी।

वापस आने मे रात हो गई। पैसे नहीं मिले। बोले थे मुंशीजी कारखाने की चाबियों के साथ कैश भी लेकर गये होंगे। यद्धपि ऐसा होता नहीं था।

सुबह नीम अंधेरे, जाड़े की रात में, चार बजे केके ने बाहर से आवाज दिया-

''मामा जी, तैयार हैं? चलें?''

केशव ने बताया कि जाने के लिये पैसे का प्रबंध नहीं हो सका है तो उसने छूटते ही कहा –

''क्या पैसे के लिये काम रुक जायेगा? उठिये, तैयार होईये, चलिये।''

केशव केके का बहुत आभारी था। केके ने उसे बहुत सहयोग दिया था।

''मामा जी, डीके से एक या दो सौ उधार क्यों नहीं ले लेते जिसे बाद में लौटा दिया जायेगा।'' - उस दिन केके ने केशव को सुझाया था, जब डीके केशव से मिलने आया था।

केशव ने डीके से दौ सौ उघार की मांग किया कि पैसा हांथ में आते ही दे दूंगा।

''लेकिन पैसे तो अभी मेरे पास नहीं हैं मामा जी। आप किसी दिन हाजीपुर आईये न।'' - डीके ने हाजीपुर आने को कहा।

डीके के जाने के बाद केके ने बताया था, कि ऐसा नहीं कि डीके के पास इतने पैसे नहीं होंगे अभी। वह बाहर आया है तो हजार,दो हजार लेकर ही आया होगा। लेकिन वास्तविकता है कि डीके विना अपनी पत्नी से पूछे एक पैसा भी इधर उधर नहीं कर सकता है, न कोई काम।

आवश्यकता तो थी ही पैसों की। उस दिन कुल उतने ही पैसे पाकेट मे लेकर निकला था केशव कि हाजीपुर जाकर वापस आ सके, जिस दिन उसकी मुलाकात बस अड्डे पर जनार्दन जी से हुई थी।

''साहब, खाना लगा दें?'' –डीके के आवास पर सेविका ने जब पूछा था तो केशव ने उसे मना करते कहा -

''साहब को आने दो, साथ ही खाना खायेंगे।''

''साहब तो डेढ़-दो बजे तक ही आयेंगे, जब उन्हें अवकाश होगा।''

- परिचरिका ने बताया।

''कोई बात नहीं। मुझे भी दो बजे ही खाना खाने की आदत है। तुम चिंता नहीं करो।'' - एक पत्रिका को पार्श्व की 'सेल्फ' से उठाते हुए केशव ने सेविका को सांत्वना दी।

''साहब तो मेम साहब के साथ ही खाना खाते हैं।'' - सशंक, वाचाल सेविका ने बताया।

''तुम छोड़ो इन बातों को। भीतर जाओ।'' - केशव पत्रिका के पन्नों में उलझ गया।

क्षण बाद, सेविका ने चाय के साथ दो बिस्कुट एक प्लेट में, सामने की टेबुल पर रख दिया था।

केशव को तो खाने से अधिक चन्द रुपयों की भूख सता रही थी।

‘‘कब आये मामा जी। देर हुई?’’ - डेढ़ बजे कार्यालय से आवास में प्रवेश करते डीके ने केशव से पूछा।

‘‘बहुत देर नहीं, यूं ही लगभग एक घण्टे हुआ होगा।’’

‘‘खाना खाया या नही मामा जी?’’

‘‘चाय के साथ बिस्कुट ले लिया है। खाना की छोड़ो। ढ़ाई बजे वापसी बस है। उसके बाद शाम को ही बस मिलेगी जिसमें भीड़ भी बहुत होगी। अतः मैं जल्दी ही चला जाना चाहूंगा।’’ - भीतर की ओर बढ़ते डीके से केशव ने तत्परता से कहा।

भीतर से आती कुछ बातों को केशव ने अनिच्छा के साथ सुना था। आज सौ-दो सौ रुपयों की भी उसकी हस्ती नहीं थी कि उसके लिये उस पर विश्वास किया जा सके।

‘‘मामा जी - - - ।’’ -उद्बोधन की भूमिका से ही केशव ने भांप लिया था कि उसे खाली हाथ लौटना है।

‘‘कोई बात नही डी। पैसे सदा सबके पास धरे तो रहते नहीं हैं। तुम चिंता नहीं करो।’’ - केशव ने डीके को कुछ आगे कहने का अवसर दिये बिना बीच में ही उसकी बात काटते हुए कहा, और सोफे से उठते हुए जोड़ा था-

‘‘अब मैं चलूंगा, डी।’’

‘‘मामा, खाना --?’’ - लजाते डीके ने हकलाते, जो केशव के सामने डीके की पुरानी कमजोरी थी, कहा था ।

‘‘नहीं डी। कहा न था कि पहुंचते ही बहु ने गंभीर नास्ता करा दिया था। देर करने से बस निकल न जाय कहीं। फिर पता नहीं कब मिले।’’ - ड्राईंग रुम से निकलते-निकलते केशव ने कहा था।

केशव ने वापसी में रिक्से पर जाने की भूल नहीं किया।

जून की तपती धूप में, बस स्टैन्ड तक की, लगभग दो कीलो मीटर या कुछ दूर की ही दूरी, केशव ने पैदल पार किया था। कोई विकल्प था भी तो नहीं।

न रिक्सेवाला ही केशव का कोई संबंधी या अपना था कि पचास के स्थान पर तीस पैसे लेता और नहीं बस का कण्डक्टर ही, कि बस की किराये में बीस पैसे कम लेता।

संबंधी?

अपना और पराया!

लेकिन जनार्दन जी न तो अपने थे, न कोई संबंधी ही।

जनार्दन जी पराये थे। एक परिचित मात्र।

प्रकृति की लीला भी अजीब है। मरुभूमि में भी गुलशन गुलजार कर देती है।

उन्हीं गर्दिश के दिनों में केशव के पुत्र ने, देहरादून की एक प्रतिष्ठित विध्यालय की प्रतियोगिता परीक्षा में, सफलता प्राप्त कर लिया। यह केशव और उसकी पत्नी के लिये उसी प्रकार उल्लास का कारण था, जैसे किसी भटकते को मरुभूमि में नखलिस्थान का मिल जाना ।

लेकिन उल्लसित हृदयमें अवसाद का कारण था आर्थिक अक्षमता। इस में लगभग तीस हजार रूपयों की आवश्यकता थी, और केशव मुहताज था एक-दो सौ रुपयों का। उसकी और पत्नी के खाते में कुल मिला कर बीस रुपये मात्र थे। समय वह था जब कोई केशव को सौ, दो सौ उधार देने का पात्र नहीं समझता था, फिर कहां तीस हजार रुपये?

केशव को तब याद आई थी अपने जमीन की, जो उसके उपयोग में नहीं था। सोचा क्यों न कुछ अंश को बेंच कर इस समस्या का समाधान किया जाय। लेकिन सम्पत्ति तो केशव ने अग्रज को दे रखा संयुक्त पारिवारिक सम्पति के रुप में।

‘‘मन करता है कि तुम्हारे मुंह पर थूक दूं’’ - जब केशव ने भैया से भूमि की बिक्रय की बात किया, तो क्रोध में बड़े भाई ने केशव से कहा।

केशव स्तब्ध था।

बातें तो और, बहुत सी हुई। लेकिन केशव उनको भूल जाना चाहता है। कुछ बातें मन को कचोटती रहती हैं। स्मृतियां उन्हें भूलने नहीं देती।

भतीजे ने सुसम्मति दिया था -

‘‘इस साल छोड़ क्यों नहीं देते। इस साल वह ‘कम्पीट कर गया तो अगले साल भी ‘कम्पीट’ कर ही लेगा। तब तक चाचा, आप की पदस्थापना कहीं न कहीं हो ही जायेगी और यह परिस्थिति नहीं रहेगी।’’

‘‘लेकिन प्रतियोगिता में सफलता की सदैव क्या ‘गारंटी’ है?’’

- केशव ने कहा था।

केशव ने जमीन पर जाकर वहां के निवासियों से भूमि बेचने की पहल किया, लेकिन अग्रज के प्रभाव और डर से कोई खरीदने को तैयार नहीं हुआ था। भैया के ही एक सहकर्मी एवं आसन्न पड़ोसी ने जमीन पर पांच हजार देने का आश्वासन दिया।

सिर्फ पांच हजार और वह भी आश्वासन!

कहावत है - ‘‘भागते भूत के हाथ लगी लंगोटी भली।’’

केशव ने सोचा, ‘ना’ से कुछ तो ‘हां’ हुआ। फिर केशव को अशोक भैया की याद आई थी।

‘‘डाक्टर साहब इतनी राशि का प्रबंध मैं तो अभी नहीं कर सकता।’’ - फिर कुछ सोच कर बोले थे अशोक भेया - ‘‘जनार्दन जी से क्यों नहीं मिलते?’’

एक दिन जब केशव बेतिया गया तो सब सुन कर अशोक भैया ने सुझाया था।

''लेकिन जनार्दन जी से अब मेरा बर्षों से संपर्क नहीं है। दूसरा, मैं अब बेतिया में रहता भी नहीं हूं और पता नहीं कब, कहां पदस्थापना हो; कब तक पैसों का प्रबंध हो सके लौटाने के लिये। इसलिये यह आपके ही द्वारा ही हो सकता है।'' - केशव ने अशोक भैया से कहा था।

''डाक्टर साहब, आप जनार्दन जी को समझ नहीं पाये हैं। आपके प्रति उनका ही नहीं उनके पूरे परिवार का अभी भी उतना ही प्रेम है। जब भी हमसे बातें होती हैं, वे या उनके पिताजी आपके विषय में जानना- पूछना नहीं भूलते हैं। फिर भी आप कहते हैं तो मैं आपके साथ चलता हूं।'' - अशोक भैया ने बताया।

जनार्दन जी ने जिस तत्परता से स्वागत किया था, केशव भावार्विभूत था-

''दोनों, साला बहनोई का दर्शन पाकर धन्य हुआ। कब आये डाक्टर साहब? कहां हैं आजकल? धन्य भाग्य कि बेतिया आने पर गरीब को याद किया।''

''जनार्दन जी, बेतिया नहीं, मैं बेतिया आप ही के पास आया हूं, लेकिन एक अभियाचना लेकर।''

''अहो भाग्य कि आपने मुझे इस लायक समझा।'' – जनार्दन जी का स्वर विनीत था।

पूरी बात सुन कर जनार्दन जी ने उलाहने के स्वर में कहा था -

''बस? डाक्टर साहब, इसी बात के लिये आपको मेरे पास अशोक बाबू की सिफारिस लेकर आना पड़ा? आपको मेरे पर इतना विश्वास नहीं था?''

-जनार्दन जी आहत लग रहे थे।

''वस्तुतः जनार्दन जी, मेरा अभी कोई ठीकाना नहीं है। कब और कहां पदस्थापना होगी और कब पैसे मिलेंगे, कि इतनी मोटी राशि को वापस कर पाउंगा, कुछ सुनिश्चित नहीं। इस परिस्थिति में आपके पास आना . . . . ।''

- केशव ने स्पष्ट किया।

“तो इसीलिये, मेरे पास एक ‘गारंटर’ लेकर आये थे?” – जनार्दन जी ने व्यंग से कहा।

केशव लज्जित सा हो गया।

‘‘डाक्टर साहब, मुझे जब इन सब की चिंता नही, तो आप भी इस सबसे निश्चिंत हो जाईये और अभी अपना काम किजिये। पैसे किस काम के, जब अपने, परायों के काम न आये। फिर आपके पास या मेरे पास, पैसा तो घर में ही रहेगा।’’

केशव आवाक था। अशोक भैया काम का बहाना बना कर, दूम दबाकर भाग खड़े हुए। जनार्दन जी अंदर गये थे और दोनों हाथों के सहारे गोदी में रुपयों का गठ्ठर पकड़े बाहर आये।

‘‘अरे, इतने सारे छोटे नोट मैं कैसे लेकर जाउंगा। मैंने तो आपसे बीस हजार ही मांगे थे। कहा न था कि शेष राशि का आश्वासन कुछ लोगों ने दिया है। बड़े नोट होते तो अच्छा होता।’’ - केशव नोटों की इतनी सारी गड्डियों को देख कर बोला।

‘‘डाक्टर साहब ये छोटे नोट नहीं, कुल पचास हजार हैं। और कहां प्रबंध करने जाइयेगा? जिसने वादा किया है, वह यदि समय पर नहीं दे, तो क्या कीजियेगा?’’ - यह जनार्दन जी, एक परिपक्व व्यवसायी और हितैषी की वाणी थी।

‘‘खाना बन रहा है। कहीं और जाना हो तो घूम फिर आईये। कितने का ड्राफ्ट बनवाना है, किसके नाम, बता दीजिये। जब तक आप खा-पीकर तैयार होगें, ड्राफ्ट भी आ जायेगा।’’ – जनार्दन जी ने केशव से कहा।

‘‘लेकिन इतने सारे, पैसे - -?’’ - अधिक राशि को देख, केशव ने हकलाते हुए कहा।

‘‘देखिये डाक्टर साहब, कुछ अधिक पैसा पास भी रहना चाहिये। बच्चे, परिवार को लेकर बाहर जाना पड़ेगा। अनेकों प्रकार के खर्च आ जाते हैं। कब क्या, कैसी जरुरत आ पड़े। आप कोई चिंता मत करिये। पैसा साथ रखिये।’’ – जनार्दन जी ने केशव को समझाते और सांत्वना के स्वर में, आत्मीयता से कहा था।

केशव की आंखें आर्द्र हो गयी थी। जब अपने सगे भाई, संबंधियों और अपनों ने उससे मुंह फेर लिया था, एक पराया, चन्द दिनों का परिचित, जो मित्रता की परिधि में भी नहीं, परिचित मात्र था, निस्पृह और निस्वार्थ भाव से काम आया। बढ़कर सहायता का हाथ बढ़ाया था।

जनार्दन जी ने ठीक कहा था, उसने पैसे नहीं दिये। भैया के उस सहयोगी ने पैसे देने से मना कर दिया था।

चिकित्सा महाविध्यालय मे पढ़ाई और व्यवहारिक प्रशिक्षण समाप्त करने के पश्चात, केशव ने अपने स्थानीय शहर में नीजि चिकित्सा व्यवसाय करने की सोचा था। इसी क्रम में चन्द महीने जनार्दन जी के मकान में किराये पर कमरें लेकर अपना व्यवसाय - ‘प्राईवेट प्रैक्टिस’ शुरु किया था।

फिर उसने नीजि व्यवसाय छोड़कर सरकारी सेवा में योगदान दे दिया, जिसके लिये व्यक्तिगत साक्षात्कार वह दे चुका था।

जनार्दन जी और उनके परिवार से परिचय की यही छोटी सी कहानी थी। लेकिन साथ के लगभग पांच-छै महीनो में ही एक घनिष्ठ पारिवारिक सा संबंध बन गया था।

जनार्दन जी ने इतनी बड़ी राशि, अब एक अपरिचित प्रायः को दे डाला, जिसका अभी कहीं कोई ठिकाना नहीं था। हां, अब केशव उनके लिये अपरिचित सा ही था कि कहां रहेगा; कब, कहां मुलाकात होगी या नहीं भी होगी; पैसे दे पायेगा, या नहीं भी? बहुत सारे अनुत्तरित प्रश्न थे।

लेकिन ये सारे प्रश्न थे केशव के मन में, जनार्दन जी इन सबसे निस्पृह लग रहे थे, और वस्तुतः वे थे भी। उन्होंने कभी भी पैसों के संबंध में, किसी से कोइ बात नहीं किया था। अशोक भैया ने केशव को बताया था।

केशव ने अनुभव किया कि इस दुनिया में अपना कोई नहीं है। सभी शास्त्रों ने सदा कहा है कि सभी सगा, संबंधी और साथी सब अपने स्वार्थ के संगी हैं। अपना, अपना है, तो मात्र अपना कर्म; अपना व्यवहार।

केशव ने जीवन में बहुत कुछ कमाया है, और बहुत लुटाया या लूटा भी गया है। लेकिन उसे नहीं लुटाने का मलाल रहा है नहीं अपने छले जाने का लेकिन केशव कभी भूल नहीं पाया उन दिनों की अपनी स्थिति, ग्रीष्म की उस तपती दुपहरी की उत्ताप में उस दिन निराश, दो कीलो मीटर की पैदल यात्रा की पीड़ा।

केशव ने जब यह कहानी सुनायी, तो कई बार उसकी आंखें, आंसूओं से छलछला आयी थी।

केशव ने उस पीड़ा को, सदा 'दूखती दांत पर, दांत को दबाने के दर्द का सुख' की भांति अनुभव कर आनंदित हुआ और होता रहा है। जिस दंश का कारण था -

दस नया पैसा, या अपने और पराये।

सुकन्या

''डाक्टर साहब हैं?''

शाम के झुटपुटे होने में अभी बहुत देर थी।

अस्ताचलगामी सूर्य की कुछ तिरछी किरणें मेरी फूलवाड़ी के उस कोने में पहुंच रही थी जहां 'गार्डेन अम्ब्रैला' के नीचे बैठा, मैं काफी की घूंट भरता, आवास के विस्तृत परिसर के सामने के मुख्यमार्ग पर नजरें गड़ाये, जनसंकुल आवागमन को देख रहा था।

आज चाईबासा में सप्ताहिक मंगलाहाट का दिन था।

मार्ग पर अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक चहल-पहल थी। सुबह से ही लगी हाट में, दूर दराज गांवों से आये लोग अपने सामानों की बिक्री या खरीद कर वापस जा रहे थे। एक मेले सा आने-जाने का नजारा था। ललनाएं और छैले भी आज की सप्ताहिक हाट के लिये सजे-धजे होते थे।

''कौन है?''

- उस कोकिलकूजित, मधुमिश्रित स्वर 'डाक्टर साहब हैं?' के सम्मोहन से, अपनी तन्मयता से बाहर निकल मैंने प्रतिप्रश्न किया था।

उंचे वरामदे के सामने पड़ी, मालती की पुष्पों से लदी सघन लतावगुंठन से बाहर आकर, सामने जो मनोहारी छवि खड़ी थी, उसे मैं निर्निमेष देखता रह गया था।

वह इकहरे, लेकिन मांसल, स्वस्थ, समानुपातिक सुपुष्ट, सुगठित काया की प्रतिमा थी। श्याम आनन पर भी अनन्य लावण्य की सुषमा थी। किंचित हरित या गुलाबी रंग की, लत्तीदार, बड़े-बड़े फूलोंवाली, सौम्य आंग्ल छपाई की

साड़ी में सुरुचिपूर्ण आवेष्ठित उसकी आकृति से सौम्यता, शिष्टाचार के साथ सुशिक्षा परिलक्षित हो रही थी।

अपलक दृष्टि को उस पर कंन्द्रित किये ही मैने प्रश्न किया -

‘‘क्या काम है?’’

‘‘सर, अपनी मां को दिखाना है।’’ - उसने शालीनतापूर्वक प्रत्युत्तर दिया।

‘‘ठीक है। मां को लाओ।’’

मेरा निदेश सुन वह वरामदे की ओर मुड़ी, और मैं भी नीचे से सीढ़ियां चढ़, उंचे वरामदे पर आ गया।

उसने बड़े सलीके से अपने सर के जिस बोझ को उतार कर सीढ़ियों की उंचे, चौंड़े मुंडेरे पर रखा, वह स्थानीय आसव - ‘हंड़िया’ का बड़ा सा मृतिकापात्र – हंडिका थी। उसके उपर हंड़िया बनाने के अन्यान्य उपकरण, एक डलिया में रखे हुए थे।

‘‘मां कहां है?’’ - उस पर अपनी दृष्टि गड़ाये हुए मैंने पूछा।

सीढ़ियों की निचले पायदान पर बैठी एक अधेढ़ महिला की ओर इंगित करते हुए उसने बेझिझक उसी मृदुस्वर में जबाब दिया था-

‘‘वहां बैठी है, सर।’’

मैंने इस सुकन्या की, परिसर में आती आकृति को तो देखा था। क्योंकि आने के मार्ग पर ही अपनी दृष्टि गड़ाये हुए, मैं उतरती दिवस की आसन्न-सान्ध्य भास्कर की नाताप प्रकाश में, उखड़ती मंगलाहाट की भीड़ को देख रहा था। लेकिन वह अधेर महिला मेरे आवास की सीढ़ियों पर कब आकर बैठी थी, मैं बिल्कुल अनभिज्ञ था।

संभवतः उसने आने के लिये चिकित्सालय के कर्मचारियों के आवास होकर आनेवाले मार्ग का अनुसरण किया था, जो मेरे परिसर में प्रवेश के मुख्य मार्ग के पहले ही, हाट से आने वाले मार्ग पर खुलता था।

‘‘मांजी को ‘चैंबर’ में अंदर लाओ।’’ - और पार्श्व में ही खुलनेवाले कक्ष में मैं प्रविश्ठ हो गया।

मां को परीक्षण की मेज पर सुला कर, वह मेज की बगल में खड़ी हो गई थी। बगल में दीवाल के साथ रखे सोफे की ओर इंगित करते मैंने उसे बैठ जाने का आदेश दिया –

‘‘तुम बैठ जाओ। ‘‘

‘‘सर, क्या मां के परीक्षण में मेरे सहयोग की अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि मैं किसी परिचारिका को नहीं देख रही हूं?’’ - उसने जिस शिष्टतापूर्वक इस प्रश्न को पूछा था उससे मैं प्रभावित हुआ था -

‘‘परिचारिका अभी आती है। तुम बैठो।

‘‘आवश्यकता होने पर मैं तुम्हारी सेवाएं भी लूंगा। पहले मांजी से तो दो बातें कर लूं।’’ - सामने पड़ी घंटी को दबाते हुए मैंने कहा था। तब तक परिचारिका भी दरवाजे पर आ गई थी।

उस महिला से रुग्णता के संबंध में ज्ञात कर, मैंने उसका समुचित परीक्षण किया। अपनी कुर्सी पर बैठ कर मैंने उस सुकन्या को, अपने सामने रखी कुर्सी पर बैठने के लिये बुलाया –

‘‘अब बताओ मां जी और उनकी रुग्णता के संबंध में तुम्हें क्या कहना है, जिसे तुम आवश्यक समझती हो?’’

मेरे प्रश्न से वह कुछ असमंजस में पड़ गयी थी।

मैन उसे समझाया –

"जैसे तुम मुझे बता सकती हो मांजी के स्वभाव, खाने-पीने की आदत और औषधियों के खाने-पीने या सुई के प्रति उनकी रुचि-अरुचि एव् अन्यान्य पसंद-नापसंद और व्यवहार इत्यादि के संबंध में। इससे मुझे औषधियों के चयन और उन्हें निर्देश देने में सहायता मिलेगी।"

सलज्ज्ज स्मिति के साथ, प्रगल्लभता पूर्वक उसने मुझे वह सब बताया जिसे उसने आवश्यक या अनाश्यक भी समझा। उसकी भाषा में शिष्टता, ज्ञान और गांभीर्य्य था, जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया।

मुझे तन्मयता के साथ अपने को सुनते देख कर, वह एक क्षण झिझकी और ठिठकी भी, परन्तु मेरे प्रोत्साहन पर पुन: मुखरता से बातें किया।

निदान का पर्चा लिख कर मैंने अपनी दृष्टि उपर उठायी –

''यदि बुरा न मानो सुकन्या, तो मैं जानना चाहता हूं कि तुम क्या करती हो?''

''सर, मैं एक छात्रा हूं, एम ए, अंतिम बर्ष की। लेकिन सर, आपने मेरा नाम कैसे जाना? मैंने या मां ने तो आपको मेरा नाम कभी बताया नहीं?'' - वह आश्चर्यचकित थी।

परन्तु उससे कम आश्चर्यचकित मैं स्वंय भी नहीं था। साश्चर्य मैंने पूछा -

''क्या सचमुच तुम्हारा नाम सुकन्या है?''

''जी, सर। लेकिन सर, आपने मेरा नाम कैसे जाना?'' - उसने अपने प्रश्न को पुनः दुहराया।

''सुकन्या, कुछ समय पहले मैं रोगियों को देख कर, शांतचित अपनी फूलबगिया में बैठा, काफी की चुस्कियां लेते हुए, सामने के मुख्य मार्ग पर, आज के मंगलाहाट की भीड़ का आवागमन देख रहा था।

"दृश्यावलोकन या किसी चिंतन में निमग्न होने के कारण, मेरी धुधंली सी स्मृति है कि मैंने तुम्हें भी आते देखा था। लेकिन कोई ध्यान नहीं दिया था

तुम पर उस समय तक, जब तक मालती की लतावितान से बाहर आकर तुम मेरे सन्मुख खड़ी नहीं हुई।

‘‘जिस क्षण से मैंने तुमको देखा है, तुमने अपनी प्राकृतिक सौंदर्य, शालीनता, सौम्यता और व्यवहार से जिस प्रकार प्रभावित किया है, उससे अनायास मेरे मन में तुम्हारे लिये यह ‘सुकन्या’ शब्द आलो़ड़ित-विलोड़ित हो रहा था, जो स्वतः मेरे मुख से निकल गया है।

‘‘तुम्हारी ही भांति मुझे भी, अपनी ही नहीं तुम्हारे मातापिता के इस ‘सहजवोध’ पर आश्चर्य हो रहा है, जिन्होने शैशव में ही तुम्हारा नाम ‘सुकन्या’ रखा था। मैं उन्हें प्रणाम करता हूं।’’ - मैंने अपने दोनों करों को जोड़, अपने माथे से लगाते बोला।

सुकन्या भावार्भिभूत थी।

‘‘एम ए में तुम्हारा विषय क्या है और कहां पढ़ती हो?’’

‘‘सर, मेरा विषय अंग्रेजी है और मैं पटना विश्वविद्यालय के पटना कालेज की छात्रा हूं। ’’

‘‘पटना विश्वविद्यालय!’’ - भावार्भिभूत अब मैं कुछ क्षण मूक था। सुकन्या को पूछना पड़ा कि -

‘‘क्या हुआ , सर?’’

‘‘सुकन्या, पटना विश्वविद्यालय और पटना कालेज की पुरानी स्मृतियों में खो गया था। मैं भी पटना विश्वविद्यालय का छात्र रह चुका हूं, - सायंस कालेज और पटना मेडिकल कालेज का।

‘‘गंगा के पावन तट पर, एक ही पंक्ति में, एक दूसरे के आसन्न खड़े उन महाविद्यालयों, और सायंस कालेज एवं पटना कालेज के बीच खड़े गौरवशाली पटना विश्वद्यिालय के, मोटे-मोटे, उंचे गोल पायों पर खड़े, ‘डच स्टाईल बिल्डिंग सिनेट हाल’ की स्मृति में खो गया था।’’

सुकन्या विहंस पड़ी - ''हां सर, बहुत अच्छा लगता है पटना कालेज और पटना विश्वविद्यालय का विद्यार्थी होकर।''

कुछ क्षण उस गौरवशाली संस्थानों की संस्तुति में बिताकर मैंने पूछा -

''सुकन्या, क्षमा करना, इतने बड़े संस्थान और एम.ए. अंग्रेजी की छात्रा होकर तुम्हें हाट में, हंड़ियां बेंचते या इस हंड़िया के भारी मटके को अपने सर पर उठा कर आते-जाते, शर्म नहीं आती?''

सुस्थिर चित, सुकन्या ने शालीनता से जो जबाब दिया, उससे मैं अपने को उपरोक्त प्रश्न पूछने के लिये छोटा समझने लगा।

''आप क्षमा करें सर। हंड़िया बनाने और बेचने का, खेती-बाड़ी के साथ मेरे परिवार का पारम्परिक व्यवसाय है। पारिवारिक व्यवसाय में, छुट्टियों के दिनों में, अपने परिवार का सहयोग करने में, मुझे शर्म क्यों आनी चाहिये?

''मैं कोई शर्मिंदगी का कार्य नहीं कर रही हूं। अपना पारिवारिक व्यवसाय करने और माथे पर बोझ उठाने - चाहें वह हंड़िया के मटके का बोझ हो या ईंट और गाड़े का, श्रम में लज्जा या ग्लानि की क्या बात है, सर?''

मैं निर्वाक था। मेरे सामने सुकोमल अंगोवाली नवयुवती, सुकन्या नहीं, एक प्रौढ़, विदुषी प्राध्यापिका खड़ी थी जिसने मुझे आज श्रम की महिमा का पाठ पढ़ाया था।

मैं उसके सुस्पष्ट उंच विचार, निर्भीक अभिव्यक्ति पर सम्मोहित था।

''शाबाश, सुकन्या। -अनायास मेरे मुख से निकल पड़ा था-

''तुमसे बातें कर बहुत अच्छा लगा। तुमने मुझे निरूत्तर कर दिया।''

हम बात को आगे बढ़ाते तभी मैंने यह अनुभव किया कि, परीक्षण मेज पर लेटी मां जी हमारी बातों से वितृष्ण, आसन्न रात्रि और दूर देहात में जाने की आशंका से चिंतित थी।

मैंने सुकन्या को निदान की पर्ची पकड़ाते हुए उसे आवश्यक निदेश देकर उसकी मां से बोला -''मां जी, चिंता नहीं करें। आप जल्दी ही ठीक हो जायेंगी।''

परिचारिका को मेरी 'फीस' देने के लिये सुकन्या ने जब अपना पर्स खोलना चाहा तो मना करते हुए मैंने कहा -

''सुकन्या, आज तुम देनदार नहीं, मैं तुम्हारा कर्जदार हूं, जिससे मैं स्यात् कभी उऋण न हो पाउंगा।''

लज्जा से आरक्त आनन सुकन्या ने कहा - ''सर, आप यह क्या कह रहे हैं? मेरा कैसा ऋण?''

''सुकन्या, आज तुमने मुझे श्रम की महिमा का शाब्दिक ज्ञान ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया है, जिसे हम तथाकथित सफेदपोश पढ़े-लिखे, संभ्रांत कहे जानेवाले स्यात् ही समझ पाते हैं। मैं तुम्हारा ऋणि हूं।

''सुकन्या, मां की बिमारी ही नहीं, अपितु किसी अपने या पराये को भी लेकर तुम्हारे परिवार का कोई सदस्य, बेझिझक मेरे पास कभी भी, चिकित्सा या किसी सेवा-सहायता के लिये आ सकता है। मुझे खुशी होगी उसका निदान या समस्या का समाधान करने या कराने में।

''मुझे ही नहीं, देश को गर्व होगा तुम्हारी सोच और मेधा की किसी भी सुकन्या पर। मेरी शुभकामनाएं सदा तुम्हारे लिये है, सुकन्या।''

जब तक मैं वहां पदस्थपित था, उसकी मां और परिवार वाले यदा कदा आये थे चिकित्सीय परामर्श के लिये। लेकिन सुकन्या से मैं फिर कभी नहीं मिला।

II

बर्षों बीत गये।

बर्षों ही नहीं, लगभग तीन दशक।

उस दिन 'आईसीएसआईएस* के डेलिगेट्स के साथ, जयपुर में मुख्यमंत्री के अतिथिकक्ष में बैठा था।

अपनी टोपी को उतार कर, उसे अपनी बगल में दबाते, वहां उपस्थित राज्य के एक उचस्थ पुलिस पदाधिकारी ने, झुक कर मेरे पैरों को छू लिया।

श्रद्धावनत शिर पर, सुआवेष्ठित वेणी ने मुझे बताया कि वह पुलिस पदाधिकारी एक महिला थी।

संभ्रम मुझे खड़ा होते देख कर, सामने तनी खड़ी उस तन्वंगी सी देहयष्ठि ने कहा -

''बैठे रहिये सर, मैं हूं - - ।''

स्मृतियों की जंजाल में में मुझे उलझते देख कर, उसने अपनी उसी पूर्व परिचित सस्मित आनन, सौम्य, शालीनता से जोड़ा था-

''सुकन्या।''

*** इंटरनेशनल कालेज आफ सर्जन्स (इंडियन सेक्शन), यूएसए।**

पिकनिक

"कैप्टन लाल!

''ट्रस्ट यू विल लुकआफ्टर माय स्वीटहार्ट, वेला।''

मेजर मेलहोत्रा ने, चालक की केबिन में अपनी साली के साथ बैठते हुए नशे की लड़खड़ाती आवाज में कैप्टन लाल से कहा था।

''आफ्कार्स, सर। इट इझ माय प्लेजर'' - कैप्टन लाल ने उन्हें आश्वस्त किया था।

टनकपुर बेस कैंप में प्रति दिन जवानों एवं सैनिक पदाधिकारियों का आना जाना लगा रहता था। कभी-कभी पदाधिकारियों की पत्नियां भी यहां तक अपने प्रियतम को छोड़ने आती थी।

मेजर मेलहोत्रा जब अपनी जिन्दादिल पत्नी और साली के साथ आये तो आफिसर्स मेस में रौनक आ गयी थी। अन्यथा कैप्टन लाल और लेफ्टिनेंट सचदेवा, लम्बी 'डायनिंग टेबल' पर आमने सामने की कुर्सियों पर बैठे, एक दूसरे का मनहूस चेहरा देखते-देखते 'बोर' हो गये थे।

दोनों ललनाएं अप्रतिम सौंदर्य और संगमर्मर सी तराशे वदन की स्वामिनी थी। शारीरिक सौष्ठव, सौंदर्य, आकृति एवं आकर्षण में प्रौढ़, प्रगल्लभ बड़ी बहन की सौंदर्य के तदनुरुप साली साहिबा, प्रकृति में भिन्न, लजीली एवं शान्त स्वभाव की नवागत यौवना थी।

स्फूर्ति एवं जीवंतता से परिपूर्ण श्रीमती मेलहोत्रा को स्पोर्ट्स के साथ ड्राईविंग का भी शौक था। बरेली से अपने किसी मित्र की एक सुरुचिपूर्ण परिवर्तित एवं सुसज्जित 'पिक अप वैन' को स्वंय ड्राईव करती आयी थी।

वाहन का पिछला भाग दोनों ओर चौंड़े 'कुशण्ड' बेंचों के साथ परिवर्तनीय छत से और चालक का केबिन भी सुरुचिपूर्ण सुसज्जित था।

मेजर मेलहोत्रा, कैप्टन सचदेवा के पूर्व परिचित थे। सचदेवा से बनवासा के प्राकृतिक सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर मेजर साहब ने बेस कैंप में एक दिन अतिरिक्त रुकने और बनवासा के लिये पिकनिक का प्रोग्राम बनाया ताकि साथ आयी पत्नी और साली साहिबा का कुछ मनोरंजन हो सके।

''डाक्टर, देखिये न मेरी बहन का गला कुछ खराब हो गया है। कुछ कीजिये। क्योंकि कल बनवासा के लिये पिकनिक का प्रोग्राम है। यह कैसे 'इंज्वाय' कर पायेगी?'' - श्रीमती मेलहोत्रा ने अनुनय के साथ कैप्टन लाल से कहा था, जब वह दूसरे दिन नास्ता करने के लिये सबेरे मेस में गया तो।

''डाक्टर, कुछ करो नही तो सारा मजा किरकिरा हो जायेगा। मेरी प्रिय साली साहिबा ही पिकनिक का लुत्फ नहीं उठा पायेगी।'' - मेजर मेलहोत्रा ने भी चिंता के साथ अपनी अनुशंसा भिड़ाई थी।

''नहीं, नहीं, मुझे कुछ नहीं हुआ है, बिबा। गला यों ही कुछ खुश्क हो गया था। आपलोग वैसे ही परेशान हो रहे हैं।'' - सलज्ज साली साहिबा ने मधुमिश्रित सुरीले स्वर में अपनी अग्रजा के मिस कैप्टन लाल से कहा था।

''नहीं डाक्टर, इसकी बात नहीं सुनो जी। यह वैसे ही शर्मीली और डरपोंक है। इसे सदैव लगता है कि डाक्टर कोई सुई-वुई दे देगा।'' - बहन के प्रति लाड़ का प्रदर्शन करती श्रीमती मेलहोत्रा ने कहा।

लेकिन उस ललना से अधिक तो कैप्टन लाल को शर्म आ रही थी कि कैसे उसके संगमर्मरी गोरी, सुकोमल गालों को अपनी हाथों में लेकर, उसके गले का परीक्षण कर पायेगा।

''नहीं, मिस मेलहोत्रा, कोई घबड़ाने की बात नहीं। मुझे देखने दीजिये। यदि कुछ होगा भी, तो मैं आपको मीठी गोलियां हीं दूंगा। सुईयों के विरूद्ध मैं

स्वंय रहता हूं।' - कैप्टन लाल ने उस डरी सहमी सुकन्या को सांत्वना देने के स्वर में कहा।

उन मक्खन सी मुलायम चिबुकों के स्पर्श से शरीर में उठे सिहरण को संयमित करते, उस कनक लता सी कामिनी के आनन को अपने दोनों हाथों में आवद्ध कर, कैप्टन लाल ने उसके कानों के आगे के लालाग्रंथि एवं गले की दोनों ओर के ग्रंथियों को टटोला।

''प्लीज, मुंह खोल कर आ-आ-आ बोलिये, ताकि आपके गले के भीतर मैं देख सकूं।'' - उसे कुछ हिकिचाते देख लाल ने पुनः आग्रह किया -

''देखिये, शर्माईये नहीं। मुंह खोलिये।''

''डाक्टर, लेकिन मेरी नजर में तो, उससे अधिक आप शर्माते लग रहे हो।''

-श्रीमती मेलहोत्रा ने सहास्य कहा।

मिस मेलहोत्रा भी खिलखिला पड़ी थी और वातावरण एक मादकता से परिपूर्ण हो उठा था।

लेकिन उस आगत यौवना का आनन और आरक्त हो उठा था। कुछ हिकिचाहट के साथ उसने दुग्ध धवल दांतों की पंक्तियों से आवृत अपने मुख को खोलते हुए 'आ - आ - आ' की मृदुल ध्वनि निकाली थी।

अपने बांयें हाथ को उसके चिबुक से पकड़ नीचे दबाते कैप्टन लाल ने, दाहिने हाथ में पकड़ी टार्च की रोशनी उसके मुख के भीतर डाला, और देखा-

''सब ठीक है। आप दो तीन बार 'वार्म सैलाईन गार्गल' कर लें। मैं कुछ 'लाजेन्जेज' भेज देता हूं। एक-एक गोली छै से आठ घण्टे पर, मुख में रख कर चूसती रहें। कल तक सब सब ठीक हो जायेगा।'' - कैप्टन लाल ने निदेश दिया।

तभी श्रीमती मेलहोत्रा ने सहास्य कहा –

‘‘डाक्टर, अब तो छोड़िये उसकी गालों को।’’

सभी ठठाकर हंस पड़े थे। कैप्टन लाल का चेहरा शर्म से लाल हो उठा था।

लेकिन वाचाल श्रीमति मेलहोत्रा ने यहीं नहीं छोड़ा। नहले पर दहला जोड़ने से बाज नहीं आयी -

‘‘अब देखिये, डाक्टर का लजाना। उनकी श्याम गालें भी ललाम हो गयी हैं।’’

कैप्टन लाल उनकी प्रगल्भता पर साश्चर्य आकर्षित था और उनके सुललित वाक्यविन्यास पर भी।

वातावरण ठहाकों से फिर गूंज उठा और लेफ्टिनेंट सवदेवा की छाती पर सांप लोटने लगा था, जैसा कि उसने बाद में कैप्टन लाल को बताया था -

‘‘सर, बुरा न माने, आप साले डाक्टर बड़े भग्यशाली होते हैं। हम चोरी चोरी ताकते ही रह गये, और आपने गालें तक पकड़ ली। आप डाक्टरों का भाग्य ही निराला होता है।’’

लाल ने उस दिन अपना हाथ नहीं धोया था। डर था कि उसके सुचिक्कन आनन की मलाई और स्निग्ध त्वचा की स्पर्श का सुगंध जो उसके हाथों मे लिपट गयी थी, धुल जायेगी।

खाना तो हाथ की उंगलियों से नहीं, -

कांटे चम्मच से ही तो खाना था।

II

''बिबा!

''कितनी सुन्दर आकृतियां हैं इन दीवालों पर। हैं न?''

दिन में टनकपुर के स्थानीय और सैनिक छावनियों के परिदर्शन क्रम में वह दल सचदेवा के साथ चिकित्सा यूनिट में भी आया था । कैप्टन लाल के आवासीय कक्ष में झांकते हुए मिस मेलहोत्रा ने अपनी बड़ी बहन को संबोधित करते, सोल्लास कहा।

''हां बेबी।'' - मिसेस मेलहोत्रा ने कहा, जो अनुरक्त, लगन से आकृतियों के अवलोकन में विस्मृत थी। उन्होने कुछ कहने के लिये कैप्टन लाल पर अपनी दृष्टि निक्षेप किया था, तभी उनके कुछ कहने के पूर्व ही मेजर मेलहोत्रा बोल पड़े थे –

''लाल, क्या तुमने बनाई हैं ये चित्रकारियां या पूर्व से ही इन दीवालों पर थी?'' - मेजर ने एक गोला दागा था।

मेजर मेलहोत्रा की बात को अनसुनी कर, अपनी तन्मय तन्द्रा से बाहर आती मिसेज मेलहोत्रा ने उत्सुकता से कैप्टन लाल से पूछा -

''कैप्टन लाल, आपके नाम के 'इनिसीयल्स' क्या हैं?''

एक क्षण के लिये मेजर और मिस मेलहोत्रा के साथ लाल भी, भौंचक हो गया था मिसेज मेलहोत्रा के इस अयाचित प्रश्न पर। लेकिन तत्क्षण ही उनका आशय लाल की समझ में आ गया। लाल की अनुरक्ति उनके प्रति और बढ़ गयी।

''हां मैडम, आपकी धारणा सही है। मेरे नाम के 'इनिसीयल्स' '- - - ' हैं अंग्रेजी में, और हिन्दी का '- - - ' है। '' - मेजर मेलहोत्रा के साथ मिस

मेलहोत्रा को और अधिक उलझन में डालते हुए, कैप्टन लाल ने मिसेज मेलहोत्रा को ससंकोच प्रत्युत्तर दिया था।

''आपकी तीक्ष्ण वुद्धि और सूझ प्रशंसनीय है, श्रीमती मेलहोत्रा।'' - श्रीमती मेलहोत्रा के प्रति वस्तुतः संम्मोहनग्रस्त होते लाल ने कहा था।

हंसमुख, प्रगल्भ और वाचाल श्रीमती मेलहोत्रा से लाल सचमुच बहुत प्रभावित हो गया था। मिसेज मेलहो़त्रा ने भी लाल की ओर आर्द्र और सम्मोहक दृष्टि से देखा था।

उस दृष्टि में प्रशंसा के साथ अनुराग का पुट था। दोनों की छायावादी वार्तालाप और परस्पर उलझी नजरों से असमंजित, मेजर और मिस मेलहोत्रा ने लगभग एक साथ पूछा था –

''यह क्या रहस्य है आप दोनों की गूढ़ बातों का। हमें तो कुछ पल्ले नहीं पड़ रहा है?''

''क्या सचमुच आपने ही बनायी है इन चित्रों को'' - निसंकोच मिस मेलहोत्रा ने लाल की आंखों में आंखें डालते हुए पूछा था।

''बेबी, क्या तुम देख नहीं पाती हो, नीचे कोने में कलाकार के हस्ताक्षर को जो कलात्मक घुमावदार लिपि में अंकित है? फिर भी पढ़ा जा सकता है।''

विस्मित बेबी ने कुछ उंच स्वर में धीरे धीरे पढ़ा था '- - - -'।

''और कैप्टन लाल के नाम के 'इनिसीयल्स' हैं '- - -' अर्थात हिन्दी का '- - '। और पूरा नाम है '- - - - '। है न डाक्टर?

''कुछ समझी?'' - सप्यार बड़ी बहन ने छोटी बहन को समझाया था।

वुद्धू सा, आवाक खड़े मेजर मेलहोत्रा सब कुछ सुन रहे थे, पर बातें उनके सर के उपर से निकल रही थी। फिर कुछ समझ कर, बढ़कर लाल के दोनों हाथों को अपनी बड़ी-बड़ी हथेलियों के बीच क्रूरता से दबाते हुए फूट पड़े थे -

‘‘शाबास, कैप्टन लाल । लेकिन मेरी बीबी की तीक्ष्ण वुद्धि की तुम्हें दाद देनी होगी। कैसे उसने पकड़ा है, तुम्हें।’’

‘‘हां, सर। मैं पहले ही प्रसंशा कर चुका हूं ‘मैडम’ की, और फिर करता हूं। विलक्षण है ‘मैडम’ की सूझ-बूझ और विविध विषयों में गहरी पैठ! मैडम का हिंदी का वाक्य विन्यास भी अद्भुत है।’’- प्रशंसात्मक गहरी नजरों से श्रीमती मेलहोत्रा को देखते हुए लाल ने कहा।

‘‘लखनवी जो ठहरी।’’ - सोल्लास मेजर मेलहोत्रा ने जोड़ा था।

मिसेज मेलहो़त्रा कुछ संकुचित और अस्थिर सी हो गयी थी अपनी प्रशंसा से।

‘‘नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात मुझमें नहीं . . . . . । ’’

‘‘हां, मैडम, बेकार समय में मैं रेखाओं से मन बहलाता हूं। ड्राविंग, पेंटिंग मेरा पुराना शौक है। दीवाल को ही ‘स्केच पेपर’ के रुप में प्रयोग कर डाला हूं। यहां ड्राविंग का सामान मिलना भी संभव नहीं।’’ - कैप्टन लाल ने कुछ संकोच के साथ कहा था।

लाल ने देखा - बेबी उसे गहरी, प्रशंसात्मक नजरों से घूर रही है।

टीन की छतवाली छोटी सी कोठरी के प्रवेश द्वार के सामने की पूरी दीवार पर मेनका का रेखाचित्र उत्कीर्ण था। पार्श्व की भीतियों पर भी, छोटे वातायनों के दोनों ओर कुछ कलात्मक कृतियां थी।

लाल को अच्छा लगा, मेलहोत्रा परिवार ने उनमें अपनी अभिरुचि दिखायी थी। वाचाल और प्रगल्भ मिसेस मेलहोत्रा की रुचि भी परिष्कृत और ज्ञान का क्षेत्र व्यापक लगा।

संकोची कैप्टन लाल उनके अप्रमित लावण्य के साथ उनकी परिष्कृत रुचि और ज्ञान के प्रति एक सहज ही चुंबकीय आकर्षण की अनुभूति कर रहा था।

तभी मिसेस मेलहोत्रा की दृष्टि कक्ष की छत की ओर चली गयी और एक उन्मुक्त ठहाके के साथ उन्होंने पूछा था -

''यह क्या है, डाक्टर?''

उनका तात्पर्य छत के नीचे टंगे टेंट से था। कैप्टन लाल के स्पष्टीकरण को सुन कर, वह लाल के प्रति अपने उत्पन्न अनुराग को दबा नहीं पायी।

लाल उनकी उन्मुक्तता से भावार्विभूत था।

हिमालय की तलहत्थी में, पहाड़ी परिक्षेत्र मे अवस्थित कैप्टन लाल के आवास का टीन का छतदार कक्ष, चारों दिशाओं के साथ उपर से भी आने वाली ताप की पंचाग्नि से उतप्त हो जाता था। अतः उसने अपने मुख्यालय से कुछ 'हेशियन क्लाथ' की मांग किया था कि उसे छत के नीचे लगा कर कक्ष को कुछ ठण्डा किया जा सके।

मुख्यालय से उपसमादेशक का पत्रोत्तर आया था -

''लाल, तुम 'फिल्ड एरिया' में एक 40 पौंड टेंट में रहते समझे जाते हो। सौभाग्यशाली हो कि तुम्हें एक पक्की कोठरी मिली है रहने के लिये।''

उपसमादेशक के पत्र ने लाल को क्षणिक उदासी के साथ एक समाधान भी प्रस्तुत कर दिया था। उसने कक्ष की छत के नीचे इस छोटे 40 पौंड टेंट को टंगवा कर, जहां गर्मी से सुरक्षा पायी, उपसमादेशक को संसूचित भी कर दिया था कि -

''श्रीमान्, आपके निदेशानुसार अब मैं टेंट के नीचे ही, क्षमा करेंगे अंदर नहीं, रह रहा हूं।''

यह 'नीचे' और 'अंदर' का राज कैप्टन लाल की यूनिट मुख्यालय में एक पहेली बनी हुई थी।

हंसमुख और विनोदप्रिय, शल्यचिकित्सा विशेषज्ञ के स्थान पर नियुक्त मेजर जी एस श्रीवास्तव, यूनिट में योगदान के लिये जाते समय एक रात्रि टनकपुर

ट्रांजिट कैंप में अपने विश्राम के समय, कैप्टन लाल की कुटिया में भी आये थे।

उस दिन वे भी अचंभित हुए थे छत के नीचे टेंट को झूलते पाकर। लाल को उनकी जिज्ञासा को शान्त करना पड़ा था आज के समान ही। वे और साथ आयी श्रीमती श्रीवास्तवा भी खूब हंसी थी और प्रशंसा किया था कैप्टन लाल का, सैन्य सेवा में उसकी सूझ-बूझ की उपयोगिता की।

लेकिन कैप्टन लाल की सिटीपिटी उस दिन गुम थी जब आकस्मिक अवकाश पर जाते समादेशक कर्नल बंबा एक दिन अनायास उसकी कैंप-कुटिया में आ धमके थे।

कैप्टन लाल की कक्ष में, भीतियों पर कलाकृतियों की गूंज उनके कानों में भी पड़ी थी।

फर्श पर बिछी बिछावन पर, पट लेटे लाल किसी पुस्तक को पढ़ने में रत था। समादेशक की आवाज सुनकर और दरवाजे पर उन्हें खड़ा देख कर, हड़बड़ी में उठकर, सावधान की मुद्रा में जो खड़ा हुआ तो अस्त-व्यस्त बंधी उसकी लुंगी नीचे आ गिरी थी। विहंसते हुए समादेशक ने सावधान किया था –

‘‘लाल, पहले अपनी लुंगी संभालो।’’

कक्ष में अंदर आकर स्नेहिल समादेशक कर्नल के के बंबा ने मुस्कुराते हुए एक नजर उपर अंटकी टेंट पर डाल, मनोयोग से कलाकृतियों को देखा और प्रसंशा एवं प्रोत्साहन भी दिया था।

लाल आश्वस्त ही नहीं बहुत खुश हुआ था। सैन्य सेवा में लाल का प्रथम बर्ष के प्रारंभिक चन्द महीने थे।

उस बर्ष कैप्टन लाल की सेवा पुस्तिका में समादेशक ने अपनी अभ्युक्ति में अंकित किया था - ‘‘आफिसर इंटेरेस्टेड इन ड्राविंग एण्ड पेंटिंग ऐज हाबी।’’

उसी संध्या लाल ने बाजार जाकर पाजामें सिलवाये थे, और लुंगी के परिधान को सदा, सदा के लिये परित्याग कर दिया था।

कैप्टन लाल की, टेंट के संबंध में कहानी सबों, विशेषकर मिसेस मेलहोत्रा को बहुत भायी थी। तिरछी, गहरी नजरों से देखते हुए मिसेज मेलहोत्रा ने व्यंगात्मक स्वर में पूछा था-

''डाक्टर, कहानी तो सच्ची है? या चित्रकारी की भांति कहानियां लिखने का भी शौक है आपको ?''

नजरों की भाषा और प्रश्न में छिपे व्यंग से स्वभावतः शर्मीला और ललनाओं के आगे पसीने से तराबोर होनेवाला कैप्टन, लाल संकुचित हो उठा था।

''नहीं, नहीं? संकोच नहीं कीजिये, मैं आपकी बात पर पूरा विश्वास कर रही हूं।'' -जिस शीघ्रता और अंदाज में मिसेज मेलहोत्रा ने कहा था, सभी ठठाकर हंस पड़े थे।

विहंसती, दुहरी तो मिस मेलहोत्रा भी हो रही थी, बहन की वाचालता पर।

परन्तु लाल की आंखें मिसेज मेलहोत्रा पर चिपकी थी, जिनकी स्वप्निल आंखें लाल पर गड़ी थी। आज लाल ने पहली बार अनुभव किया था कि आंखों की भी कोई भाषा होती है। क्योंकि उन आंखों में था - कुछ अबोला संदेश। एक 'टेलिपैथिक' संवाद!

दृष्टि विनिमय से दोनों तंद्रा से वापस लौटे, इसके पूर्व कि किसी की दृष्टि उन पर पड़े। मेजर मेलहोत्रा, लेफ्टिनेंट सचदेवा के साथ किसी वार्ता में संलग्न थे।

लेकिन मिस मेलहोत्रा ने उनकी नजरें पकड़ ली थी।

III

ड्राइविंग मिसेज मेलहोत्रा का शौक था।

पिकनिक के लिये जब हमारी टोली निकली तो उस सुरुचिपूर्ण सुज्जित पिकअप वैन की स्टीयरींग मिसेज मेलहोत्रा की हाथों में थी। साथ के लिये मिस मेलहोत्रा और मार्गदर्शक के रुप में सचदेवा ने चालक केबिन में स्थान ग्रहण किया था।

वाहन के पिछली कुशनदार लम्बी चौंड़ी बेंचों पर, आमने सामने कैप्टन लाल और मेजर मेलहोत्रा थे, और मेजर के साथ थी विलायती सुरमई सुरा की बोतलें।

प्रस्थान के साथ ही शुरु हो गये मेजर मेलहोत्रा ने लाल का भी आवाहन, साथ देने के लिये किया था, लेकिन लाल ने नहीं पीने का बहाना कर मना कर दिया था। मेजर मेलहोत्रा ने भी जीद नहीं किया था।

प्राकृतिक आरण्य और मानव निर्मित बाग-बाटिकाओं के समिश्रण से बनवासा का वह भूभाग एक मनोरम दृश्य उपस्थित करता था जो जंगल विभाग का कार्यालय होने के साथ बनवासा, जलापूर्ति का मुख्यालय था।

जंगल विभाग का सुन्दर विश्रामगृह, आरण्य के मध्य एक सुरुचिपूर्ण बागवानी के बीच अवस्थित था जो कार्यालय और आवासीय कालिनियों से अलग, कुछ दूरी पर था।

स्थानीय पदाधिकारियों से परस्पर परिचय और औपचारिकता के आदान प्रदान के पश्चात्, चीयर्स और ग्लासों की टकराहट की खनक के साथ मदिरापान का दौर शुरु हो गया। विश्रामगृह के खानसामें चीखनों की प्लेंटें लिये अपनी दौड़ में व्यस्त थे।

मिस मेलहोत्रा और लाल ने अपना योग बीयर की पेय से दिया। मेजर ने पुनः आग्रह किया था लेकिन यहां के पदाधिकारियों ने भी कैप्टन लाल का साथ दिया था –

‘‘डाक्टर साहब तो समुद्र, सौरी, नदी में रह कर भी प्यासे ही रहते हैं। समुद्र का पानी तो खारा, अपेय होता है। बीयर तो कभी कभी आप लेते हैं कैप्टन? आज भी उसी से साथ दीजिये।’’ - जंगल विभाग के चिकित्सालय में पदास्थापित डा0 सिनहा नें कहा था।

लाल को समय काटने के लिये, बीयर की छोटी छोटी चुस्कियां लेती देख, कुछ देर बाद मिसेज मेलहोत्रा ने प्रस्ताव रखा –

‘‘कैप्टन लाल, लगता है आप बोर हो रहे हैं बीयर की चुस्कियां लेते। क्यों न आप मुझे और बेबी को इस जगह को घूमा कर दिखा दें ? जगह और लोगों से तो आप परिचित लगते हैं।’’

प्रस्ताव पर सचदेवा मिसेस मेलहोत्रा को साथ देने को तुरंत उद्धत हो गया जिसे शालीनता से इंकार करते मिसेज मेलहात्रा ने कहा -

‘‘नहीं आप क्यों अपनी कम्पनी भंग करोगे। डाक्टर भी आपलोगों की कम्पनी में कुछ असहज लग रहे हैं, आपलोगों का साथ नहीं देने से।’’

‘‘मैं भी साथ चलता हूं।’’ - कहते हुए डा0 सिनहा भी अपनी ग्लास को भरते हुए तैयार हो गये।

परिभ्रमण के दौरान जंगल विभाग के छोटे लेकिन सुसज्जित चिकित्सालय को दिखाना भी डा0 सिनहा नहीं भूले।

‘‘कैप्टन लाल, आपकी सुझाव पर मैंने ‘गैस एनिस्थिसिया आपरेटस’ की भी मांग किया था और वह जल्द ही आने वाला है। उसके आने पर मैं आपको बुलाउंगा।’’ - डा0 सिनहा ने सोल्लास बताया था।

जब तक हम घूम कर आये, टेबल पर खाना लगाया जा रहा था।

बनवासा से जब पिकनिक पार्टी वापस चली, सान्ध्य सुन्दरी, रात्रि के आंचल में अपना मुखड़ा छुपाने में प्रयासरत थी।

‘‘मैं शायद ड्राईव नहीं कर पाउंगी। सिर भारी लग रहा है। अतः वान की पीछली बर्थ पर सोकर आराम करना चाहूंगी।’’

मिसेज मेलहोत्रा ने जब यह बताया, तो सबों की जिज्ञासा और चिंता उनके स्वास्थ के संबंध में होनी स्वभाविक थी।

आरण्य का मार्ग लगभग सूना था।

‘‘आपको कैसा लग रहा है? कोई दवा की आवश्यकता हो तो आप यहां से ले सकती हैं। आगे कहीं नहीं मिलेगा।’’ - डा0 सिनहा ने कहा था।

नहीं, ऐसी कोई बात नहीं, संभवतः कुछ थकावत है। कल भी तो मैं ही ड्राईव कर आयी थी। आराम करुंगी तो सब ठीक हो जायेगा। फिर डाक्टर लाल तो साथ हैं ही, चिंता क्या?’’

मिसेज मेलहोत्रा ने एक गहरी नजर से लाल की ओर देखते, बात को हल्का बनाते हुए कहा।

‘‘मैंने तो मना किया था बिबा को कि और लीकर नहीं लो, जब ‘आफ्टर लंच’ कक्ष में आराम करने गयी थी । पर नहीं मानी थी। ‘हैंगओवर’ भी हो सकता है।’’ -मिस मेलहोत्रा ने किंचित चिंतापूर्वक कहा।

‘‘संभव है बेबी। तुम आगे केबिन में जीजा के साथ बैठ जाओ। पीछे कैप्टन लाल हैं न, ‘ही वील लुकआफ्टर मी’। . . . क्यों डाक्टर?’’ - मिसेज मेलहोत्रा ने समस्या को ‘सम अप’ कर दिया और समझदार बेबी, आगे केबिन में चली गई -

‘‘बिबा, अपना ख्याल रखना।’’

खुले छत की वान से, बन-बीथियों में प्रकट होनेवाली उपर नील वितान में कभी कभी चांद का मुखड़ा झलक पड़ता था। लेकिन लाल की आंखें तो सामने लेटी काया के चन्द्रानन पर आवद्ध थी।

मिसेज मेलहोत्रा के परिधान के उपर के दो खुले बतामों से, सोते में उपर निकल आने को आतुर गोरे-गोरे दोनों वर्तुल उरोज, वाहन की गति से किसी मृगछौने से उछल-कूद रहे थे, जो जंगल की अज्ञात, लेकिन मादक सुरभिसंयुक्त व्यंजन से व्याप्त वातावरण को और उन्मादक बना रहे थे।

उस कामिनी ने अपने आराम या किसी विशेष प्रयोजन से बातामों को खोल रखा था, क्योंकि अन्यथा उनके खुलने की संभावना ही नहीं थी।

सुरूचिपूर्ण संवारी गयी घनी, काली, कुंतलराशि की कुछ लटे बाहर निकल कर, गोरे गालों, कुछ उस अनावृत छाती पर और कुछ बेंच के बाहर नीचे लटक रहीं थी।

लाल की उन पर टिकी आंखें मिसेज मेलहोत्रा की अकस्मात खुलती आंखों से टकरा गयी।

वह कुछ असहज और शर्मिंदा हो उठा।

लेकिन, सहज सा होते मिसेज मेलहोत्रा, उठ बैठी थी।

‘‘अब कैसी तबियत है, मैडम? - नजरों की चोरी पकड़े जाने से संकुचित, लाल ने पूछा।

‘‘कैसी तवियत? किसकी तवियत? तुम भी लगते निपट अनाड़ी, वुद्धू हो लाल।’’ – विहंते हुए कहते मिसेज मेलहोत्रा वाहन के इस ओर आकर, लाल के पास चिपक कर बैठ गयी –

“मैं सोयी ही कहां थी। कभी-कभी अधखुली आंखों से तुम्हारी चोरी-लगातार ‘मेरे रूप-सुधा का पान’ देखती रही थी। इस बार अनायास नजरें टकरा गईं।”

सानिध्य से लाल और संकुचित हो उठा।

यह वही लाल था जिसे विद्यार्थी जीवन में सुमुखियों से सामना होने मात्र से, कमीज के भीतर पसीना बहने लगता था। लेकिन आज शायद बीयर की मंद खुमारी में सब कुछ बहुत अच्छा लगा, एक प्रौढ़यौवना के मादक सानिध्य का सौख्य भी!

उसके सारे वदन में एक सिहरण सी व्याप्त हो गयी थी।

अपने घुटनों के बल पर, बेंच पर बैठते हुए मिसेज मेलहोत्रा, वाहन के बाहर का दृश्यावलोकन करने लगी –

‘‘वाह, इस चांदनी रात में, आरण्य के भीतर यह कैसा दृश्य है! कितनी मादक वयार बह रही है!’’

लाल को सहमति में कुछ अस्फुट सा बोलते देख, मिसेज मेलहोत्रा ने, अपनी गहरी नजरों से देखते पूछा -‘‘क्या मेरी कम्पनी से खुश नहीं हो, डाक्टर?’’

‘‘नहीं मैडम, ऐसी बात नहीं। मैं स्वभावतः उतना मुखर नहीं। रमणियों के बीच मुझे समझ नहीं आता कैसे बात करनी चाहिये। कौन ऐसा मूर्ख होगा, जिसे आप जैसे सुन्दरी की कम्पनी प्रिय नहीं लगे?’’

‘‘तो आपको मैं प्रिय लग रही हूं और तुम्हारी नजर में सुन्दरी भी हूं। आगे की बातें मैं समझा दूंगी।’’

- वह खिलखिला उठी थी।

लाल के गाल लाल हो उठे थे।

‘‘क्यों, शर्मा गये न? सो तो मैं कल से ही तुमको देख रही हूं, मेरी छोटी बहन के गालों को छूने से सिहरे-सिमटे और आज अपनी पेंटिंग की प्रशंसा सुनते।’’

''कम अप डाक्टर, लेट यस टौक। आप इस जगह और यहां के आफिसर्स से काफी परिचित लग रहे हैं। क्या आप यहां प्रायः आते हैं?''

''हां, कभी कभी तो रात में भी आना पड़ता है, जब किसी आकस्मिकता की स्थिति या जंगली जानवरों के आक्रमण से घायल के आपरेशन की नौबत आती है।''

''क्या आप एक सर्जन हैं? 'आई लव सर्जन्स'।''

''अभी तक स्पेलिस्ट सर्जन तो नहीं, परन्तु सर्जरी मेरा शौक है और सर्जरी में एमएस कर रहा था कि राष्ट्रीय आपातकालीन में सैन्य सेवा में आ गया। लेकिन आपको सर्जरी से प्रेम क्यों, कैसे है?'' - लाल पूछ बैठा।

''लाल, मैं एक डाक्टर की बेटी हूं, और मेरे पिता भी एक सर्जन थे। मैंने उन्हें आपरेशन्स करते भी देखा है। मैं भी एक डाक्टर बनना चाहती थी - सर्जन ही। लेकिन परिस्थितियों ने साथ नहीं दिया।

''मैं सर्जन धरती पर भगवान मानती हूं, जो भगवान के किये गये गल्तियों को भी ठीक करते हैं।'' - कुछ उदासी के साथ मिसेज मेलहोत्रा ने कहा।

पता नहीं स्वरों में उदासी पिता की याद की थी या सर्जन नहीं बन पाने की?

''मैडम, यह तो लोकोक्ति है कि डाक्टर, धरती पर भगवान स्वरुप है। लेकिन वह भगवान नहीं कभी हो सकता, नहीं वह स्वंय भगवान होने का दम्भ करता है।

''कितने नीरीह और बेबस लगते हैं हमलोग जब आंखों के सामने, हमारे खोखले ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा और उपाय के मुख पर तमाचा मारते, कोई दम तोड़ देता है और हम देखते रह जाते हैं बेबस, निसहाय, निरीह दर्शक सा।''

''लेकिन कितनी श्रम और लगन से आपलोग किसी रोगी की सेवा में संलग्न रहते हैं, और उसके प्रति अपने लगाव को महसूस करते हैं। मैंने अपने

पिताजी को देखा है। फिजिसीयन भी अपने रोगी की चिंता करते होंगे, लेकिन मैं नहीं समझती कि एक सर्जन की भांति उनका अपने मरीज से उतनी आत्मीयता होती है। संभवत: मुझे किसी फिजिसीयन का अनुभव नहीं हों, क्योंकि मैंने एक सर्जन को ही करीब से देखा और जाना है।

‘‘मैने अपने पापा की आतुरता देखी हैं किसी भी क्रिटिकल आपरेशन के बाद, जब तक कि रोगी के स्थिति में स्थायित्व नहीं आ जाता था।’’

’’आपका कहना बहुत सीमा तक ठीक है। सर्जन और एक रोगी के बीच एक अनोखे विश्वास का बंधन होता है। उसी विश्वास के बल पर रोगी अपना सब कुछ समर्पित कर, चुपचाच निढाल आपरेशन की टेबल पर, सर्जन के सामने लेट जाता है कि अब जो करना है करो।

‘‘बेहोशी की स्थिति भी एक प्रकार मृत्यु की स्थिति है, जिसमें सांसें तो चलती हैं, हृदय भी गतिशील रहता है, लेकिन शरीर निष्क्रिय। सांस और हृदयगति का क्या ठिकाना, कब गति बंद हो जाय; कब सांसें रुक जाय?

‘‘यह सब कुछ सोचकर, जानकर भी व्यक्ति सर्जन को अपने को सुपुर्द कर देता है।

‘‘रोगी और उसके परिवार की इस विश्वास की रक्षा का महती दायित्व रहता है सर्जन के कंधों पर। मूर्छना की प्रकृया भी दूसरे की हाथ में होती है।

‘‘लेकिन संपूर्ण दायित्व तो सर्जन के सबल कंधों पर ही होता है। यह स्थिति चिकित्सकों के साथ नहीं होती।

‘‘लेकिन इस विश्वास की रक्षा, निसहाय सर्जन नहीं, वह जगतनियंता ही करता है जिसे हम सब भगवान कहते हैं।

‘‘मैं समझता हूं कि सभी सर्जन आस्तिक होते हैं। क्योंकि शल्यचिकित्सा में कदम कदम पर आस्था और विश्वास का योगदान होता है।

‘‘लेकिन सब कुछ के उपरांत मैडम, मैं ‘सर्जरी’ को एक उत्तम कला कृति भी मानता हूं- एक चिकित्सीय कला। जिसमें परिसीमन के वावजूद भी स्थान है एक ‘सर्जन’ को अपनी वैशिष्ट्य कला प्रदर्शन का, जो दूसरे से उसे अलग कर सकता है, और करता भी है।’’

मिसेस मेलहोत्रा, प्रायः मूक और सलज्ज लाल की वाचालता पर मुग्ध, एकटक उसे देखे जा रही थी। कैप्टन लाल ने भी अनुभव किया कि अभी वह कुछ अधिक भावप्रवण हो गया है, और वाचाल भी।

तभी वाहन की एक झटके से वह अपना संतुलन खोकर मिसेस मेलहोत्रा लाल के उपर गिर पड़ी।

मिसेज मेलहोत्रा ने अपने बांये हांथ से लाल का कंधा पकड़ अपने को संतुलित किया और उनका दायां हाथ अनायास लाल की दोनों जंघाओ के बीच आ टिका था। लाल ने उन्हें अपनी बाजूओं में बांधते उपर की ओर देखा -

‘आलुलायित घनी, काली, सुगंधित, कुंतलराशि के बीच, नशीली कजरारी आंखें, जिसमें आसव के प्रभाव से उभर आये लाल लाल डोरें, और मदमय और नशीला बना रहे थे। रक्ताभ रंजित अधखुले रसीले होठों वाला चांद सा मुखड़ा, चन्द इंचों की दूरी पर उसके उपर झुका हुआ था।

उनके युग्म उन्नत उरोजों का दबाव भी लाल ने अपने सीने पर अनुभव किया। मिसेज मेलहोत्रा की गर्म श्वासें, उसके आनन को आवृत किये हुए थी।’

ये मादक क्षण थे।

लाल कुछ सोच पाता, तभी मिसेज मेलहोत्रा ने अपने बंधन को सहज और कुछ कठोर बनाते, लाल के लिलाट, होंठ, आंखों और गालों का उन्मत्तता से चुंबन शुरु कर दिया।

ऐसी परिस्थिति में सामान्य मानवीय ही नहीं, चेतन पशु-पक्षी-कीट-पतंग और उद्भिजों की भी प्राकृतिक प्रतिक्रिया है इन प्रक्रियाओं का प्रतिदान करने का।

मिसेज मेलहोत्रा अब सावधानी पूर्वक लाल की अंकपाश में आवद्ध, उसकी गोद में थी। प्रारंभिक उद्दाम के पश्चात, अब वे धीरे धीरे लाल के कमीज के बतामों को खोल कर, उसके सीने की बालों में अपनी अंगुलियों से खेलने लगी थी।

‘‘अहा! कितने ‘कोजी’ हैं ये सघन बाल।’’ - कहते उसने लाल के सीने में अपना मुंह छिपा लिया। लाल की उंगलियां, उनके सुचिक्कन उरोजों को सहलाते हुए कुछ ऐसा किया कि एक मीठी सीत्कार के साथ, मिसेज मेलहोत्रा का सारा शरीर सिहर उठा था। वह लाल से और अधिक चिपक गई।

उसने खड़ा होकर, झुक कर लाल के आनन का एक सुदीर्घ चुंबन लेते उसकी कमीज को निकाल फेंका। उसके कमनीय कमर को एक बाजू के घेरे में लेते हुए लाल ने भी दूसरे हाथ से उनके शलवार के लटके नाढ़े को खींच दिया।

चिनांशुक की शलवार, सुचिक्कन नितंबों और कदलीस्तंभ जंघाओं पर से सरसराती, मधुर मर्रमर की ध्वनि के साथ नीचे फर्स पर गिर गयी।

कुछ ही क्षणों में दोनों वाहन के गद्दीदार चौंड़े बेंच पर एक दूसरे की बाजुओं में आवद्ध, एकाकार थे।

उपर नील गगन में चांद विहंस रहा था और टिमटिमाते तारे, अपनी आंखें झपका रहे थे।

बादल के एक लावारिश टुकड़े ने, चांद के सामने आकर नीचे के दृश्य पर पर्दा डालने का धृष्ठ प्रयास किया था। उसे स्वंय रसिक चंदा नें झटके से परे ढकेल दिया था।

मिसेज मेलहोत्रा की कामोदेक की परम संतुष्टि की एक लम्बी सीत्कार की ध्वनि, संभवतः वाहन की आवाज में दब गयी होगी। अपने उपर निढाल पड़े लाल को उन्होंने गहरे बंधन में बांध लिया था, और स्वंय निश्चेत सी पड़ी रही।

यदि उनकी सीत्कार की ध्वनि श्रव्य भी थी तो, आगे वाहक कक्ष मे गाड़ी की 'स्टीयरींग' संभालें लेफ्टिनेंट सचदेवा का ध्यान वाहन को चलाने पर होगा। लाल बिल्कुल आश्वस्त था कि मेजर मेलहोत्रा नशे में साली के कमनीय कंधे पर अपनी भार डाले, नशे में गहरी निद्रा की आगोश में होंगे।

आवेग की परिणति पश्चात् श्लथ मिसेज मेलहोत्रा ने कुछ देर तक लाल को बांधे रखा अपने अंकपाश में। फिर फुसफुसाते हुए कहा था -

''आई लव यू . . . लाल। यू .... आर हारिब्ल, ...। '' ''आई ..... हैव सेड .... आई लव सर्जन्स ..... आ ... ई ..... लव ....सा ..... ई ..... पर ....स..... न्स टू।''

मिसेज मेलहात्रा तंद्रालसित हो रही थीं। उन्होंने अस्फुट स्वरों में ही, गहरी तंद्रा में जाते हुए बोलना जारी रखा था -

''माई ..... फ्रें .... ण्ड्स .. टू .... स्से ...., ... साई ..... परस ..... न्स आर ....।''

और निढाल मिसेज मेलहोत्रा की आंखें बन्द हो गईं।

वे गहरी नींद में थीं। उनके आनन पर वह परम संतुष्टि की आभा थी।

उनके ढ़ीले पड़ते अंकपाश से अपने को विमुक्त कर लाल ने अपने कपड़े पहने और मिसेज मेलहोत्रा के सुवासित कुन्तलराशि युक्त सिर को पुनः अपनी गोदी में लेकर बैठ गया।

कुछ देर उनके सुपुष्ट और सुचिक्कन देहयष्ठि को सहलाता खेलता रहा, फिर न जाने कब, कुछ देर के लिये वह भी तन्द्रालसित हो गया था।

मिसेज मेलहोत्रा गहरी निद्रा में सो गयीं और लाल निमग्न था अपनी नयी अनुभूति की तरल तरंग में बहते, स्निग्ध नेत्रों से उस आनन के अवलोकन में जो परम संतुष्टि की आभा से आलोकित उसकी गोदी में निश्चिन्त पड़ी थी।

उसने झुक कर कई बार उनके रसीले, मद भरे लाल लाल होठों को चूम लिया था।

टनकपुर आने के पूर्व मिसेज मेलहोत्रा को हौले से जगाते, लाल ने बताया कि-

‘‘मैडम, कपड़े ठीक कर लीजिये। हमलोग टनकपुर पहुंच रहे हैं।’’

तन्द्रालसित मिसेज मेलहोत्रा ने, अपने बाजूओं को बढ़ा कर, लाल को गर्दन से पकड़, उसके शिर को नीचा करते हुए एक दीर्घ चुंबन उसके होठों पर जड़ दिया।

‘‘सचदेवा, ‘एमआई’ रुम के पास गाड़ी रोक देना, प्लीज। मैं तैयार होकर ‘डीए’ के साथ मेस में आ रहा हूं।’’ - कैप्टन लाल ने गाड़ी चलाते सचदेवा से कहा।

‘‘सीधे मेस में ही क्यों नहीं चलते?’’ - सचदेवा ने पूछा।

‘‘फिर उधर से वापस आने की समस्या होगी। तुम्हें ही पहुंचाने फिर आना पड़ेगा, सचदेवा।’’

‘‘सो तो ठीक है।’’ - गाड़ी को ‘एमआई’ रुम के पास खड़ा करते सचदेवा ने कहा। लाल के साथ मिसेज मेलहोत्रा भी वही उतरने को उद्धत हो गयी। उनकी आंखों में उन्माद था -

‘‘मैं डाक्टर को बाईक पर लेकर आती हूं। आई लव बाईक राईडींग।’’

‘‘लेकिन मैडम, मैं वापस कैसे आउंगा विना ड्राईवर का? मैं बाईक चलाना नहीं जानता हूं। ’’

‘‘डोन्ट लाई, डाक्टर?’’ - मिसेस मेलहोत्रा ने नटखटेपन से बोला।

‘‘रीयली, आई डू नाट नो बाईक ड्राईविंग।’’ - लाल ने भी सफेद झूठ बोला।

वह आशंकित था, मिसेज मेलहोत्रा यदि यहां उतर गयी, तो हमें मेस में जाने में देर होगी। और मिसेज मेलहोत्रा की भवभंगिमा से उसकी आशंका निर्मूल नहीं थी।

वाहन से लाल के नीचे उतरने के पूर्व मिसेज मेलहोत्रा ने, अपने बाजूओं में आवद्ध करते दो-तीन चुंबन लाल के होठों और गालों पर अंकित कर डाले।

गहरे, पर निशब्द!

उनकी नशे की खुमारी पूरी उतरी नहीं थी। मेजर मेलहोत्रा भी केबिन में अलसाये ही थे।

दूसरे दिन मेजर उपर, अपनी यूनिट में योगदान के लिये चले गये।

मिसेज मेलहोत्रा की इच्छा थी दो तीन दिन और रुक कर, टनकपुर के आस पास बन-बीथियों के परिभ्रमण करने का। उनका शिकार पर चलने का भी प्रस्ताव था किसी दिन।

सचदेवा की जीभ लुसफुसा रही था। लालायित लाल भी किंचित डंवाडोल था लेकिन, उसने इस प्रस्ताव का एकांत में सचदेवा से विरोध किया।

‘‘मैडम, यह हमलोगों के लिये प्रिय बात होती, लेकिन आज ही रात्रि में हमारे कमान्डिंग आफिसर कर्नल बंबा आ रहे हैं। विश्राम भवन में आवास की समस्या है। अन्यथा हमें आपके आतिथ्य की बड़ी खुशी होती।’’ - लाल ने आवास की अनुपल्बधा पर अमनी असमर्थता और, निराशा व्यक्त किया।

सचदेवा ने भी सहमति में हामी भरी। निर्णय का अधिकार तो उसका ही था। लाल ने एक लम्बा निश्वास लिया।

‘‘डाक्टर, कभी लखनउ आना, तो आना मिलने।’’ - मिसेज मेलहोत्रा ने लाल को आमंत्रण दिया।

सचदेवा, सुनकर जल-भुन गया था।

‘‘निसंदेह मैडम, मैं अवश्य आउंगा।’’

लेकिन नहीं लाल ने पूछा, नहीं उन्होंने ही दिया था, अपना पता।

यह थी कैप्टन लाल की हरी वर्दी में पहली पिकनिक! जीवन की एक नयी उपलब्धि; एक नयी अनुभूति!

अप्सराओं सी कामिनियों को, वापस विदा करते एक टीस भी उठी थी लाल के अंतर्मन में। नवागत यौवना साली साहिबा की शर्मीली अदा और रसीली होठें भी तो सालती रही थी लाल के मन को।

लेकिन भावनाओं पर नियंत्रण कर, विदा करने में ही भलाई थी।

दूर,

बहुत दूर तक!

हाथें हिलाते, उन्हें विदा देते रहे थे वे।

होने तक नजरों से ओझल,

हिलती नजर आती रही थी-

दृष्टि में कुछ देर तक,

लेकिन, भीतर,

मन के भीतर, स्मृति में,

बहुत देर तक,

नहीं -

कुछ दिनों तक।

नाचती रही थी -

संगमर्रमरी, गोरी, गोरी,

- वे नाजुक अंगुलियां,

और कमनीय कलाइयां!

ईति

सुख

जीवन में, सुख के दो प्रकार हैं।

एक, जब जीवन मक्खन सा मुलायम, वाधारहित सुचिक्कन पथ पर फिसलता चला जाय।

दूसरा, जब कदम कदम पर अवरोधों, व्यवधानों के बीच जीवन अपना मार्ग बनाता चला जाय।

दोनों में इस बात की संभावनाएं है, कि व्यक्ति उस उंचाईयों तक नही पहुंच सके जहां तक पहुचना श्रेय या संभाव्य था, या यह भी हो सकता है कि व्यक्ति संभाव्य या संभाव्य से भी उपर, बहुत उपर पहुंच जाय।

फल, अर्थात उपलब्धि समान हैं, लेकिन -

दोनों के सौख्य में आकाश-पाताल का फर्क है।

इस सौख्य की अनुभूति और व्याख्या वही कर सकता है जिसने -

चिकनाई और घर्षण - दोनो प्रकार के सौख्य को प्राप्त किया हो।

एक में नीरसता है; समरसता है, जबकि दूसरे में गहरी आत्मतुश्टि, वैषम्य का अनुभव एवं स्वाद और आत्मसम्मान के सौश्ठव की मीठास !

- लेखक